



॥ पैरवी ॥

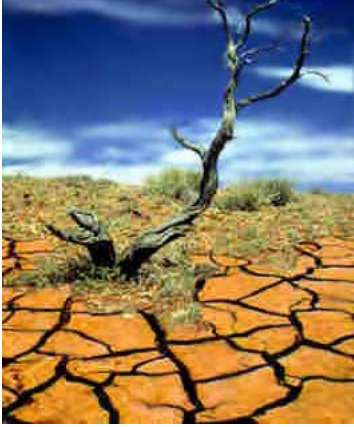
॥ पैरवी संवाद ॥

पब्लिक एडवोकेसी इनिशिएटिवज फॉर राइट्स एण्ड वेल्युज इन इण्डिया (पैरवी)

वर्ष 10 अंक 4

अक्टूबर 2009

इस अंक में



- ◆ जलवायु परिवर्तन: स्थितियाँ और प्रभाव
- ◆ जलवायु परिवर्तन को रोकने के लिए अंतर्राष्ट्रीय राजनैतिक व विधिक प्रयास
- ◆ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और सौदेबाजी
- ◆ जलवायु परिवर्तन पर भारत की स्थिति और तैयारी
- ◆ जलवायु परिवर्तन और कृषि
- ◆ जलवायु परिवर्तन : बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों पर प्रभाव - जनसुनवाई
- ◆ अकेले नहीं आता अकाल
- ◆ विश्व जीवन का आधार : प्रकृति
- ◆ जलवायु परिवर्तन के चलते...

संपादक मण्डल.....

प्रो. संजय भट्ट
अजय के. झा
रजनीश

प्रिय साथियो,

हाल ही में अखबारों में प्रकाशित जयराम रमेश के बयान अत्यंत चिंताजनक हैं। यह अभी तक जलवायु परिवर्तन की बहस पर राष्ट्रीय स्थिति और तर्कों के बिल्कुल उलट है। अभी तक भारत ने इस बहस और सौदेबाजी में विकासशील देशों के संघर्ष को अगुवाई और शक्ति प्रदान की थी। हालिया बयान अब यह साथ देने में ज्यादा विश्वास नहीं दर्शाता है। खबरें अगर सच हैं तो भारत विकसित देशों की लॉबी से अत्यंत प्रभावित, आश्वस्त और उनके दल में शामिल दिखता है।

चिंताजनक बात यह है कि इसकी बड़ी कीमत देश को चुकानी पड़ेगी। भारतीय अर्थव्यवस्था और जनसंख्या अभी भी मूल रूप से कृषि पर आधारित है और दक्षिण एशियाई विकासशील देशों की भी कमोबेश यही स्थिति है। विकासशील देश भी शायद अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जलवायु परिवर्तन की बातचीत में कृषि को प्रमुख मुद्दा नहीं बना पाए हैं। भारत से इसकी अपेक्षा और भी कम है। अंतर्राष्ट्रीय बातचीत, संधियों की अपनी एक सीमा है। इससे अधिक आवश्यक राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर त्वरित प्रयास हैं।

भारतीय परिवेश में जलवायु परिवर्तन का प्रभाव किन-किन रूपों में परिलक्षित हुआ है यदि उन पर नज़र डाली जाए तो स्पष्ट होता है कि मानव जीवन के तमाम आयाम, दैनिक जीवन से जुड़ी छोटी-छोटी चीजों के धीरे-धीरे होते जा रहे ह्रास ने कितना गंभीर रूप ले लिया है और आगामी समय में कितनी कठिनतम स्थितियाँ हमारे सामने होंगी। ऐसे में सिर्फ अंतर्राष्ट्रीय संधियों/प्रयासों पर निर्भर होना, सिर्फ उन्हें ही तरजीह देना काफी नहीं है। जरूरत ऐसे प्रयासों की है जो बिना विकास की प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न किये जलवायु परिवर्तन की चुनौतियों से निपटने के लिए ग्रामीण स्तर से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक कारगर हों।

आशा है कि पैरवी संवाद का यह अंक आपको जलवायु परिवर्तन के विभिन्न आयामों पर समुचित जानकारी देगा। जलवायु परिवर्तन की बहस को अंतर्राष्ट्रीय स्तर से राष्ट्र, राज्य और स्थानीय स्तर पर लाने में नागरिक समाज की महत्वपूर्ण भूमिका है। तभी शायद नीतियों व प्रयासों में अधिकाधिक लोकोन्मुख विचारों का संयोजन व समावेश हो पाएगा।

आपकी प्रतिक्रियाओं, सुझावों और सहयोग की अपेक्षा में...

- संपादक मण्डल



जलवायु परिवर्तन : स्थितियाँ और प्रभाव

जलवायु परिवर्तन को इस सदी में सतत विकास की गंभीरतम चुनौती में से माना जा रहा है। प्रकृति के विनाश पर खड़ी की जाने वाली सुख-सुविधाओं व आरामदेह जीवनशैली के लोभ से उपजी इस समस्या के दुष्प्रभाव कमोबेश सभी देशों, सरकारों और समुदायों पर आशातीत हैं। इसके निवारण के उपाय प्रचलित विकास की अवधारणा से परे जीवनशैली, सोच व विकास के प्रारूप में आमूलचूल परिवर्तन की माँग कर रहे हैं। यह बहुत हद तक संभव है कि इसके प्रभाव न सिर्फ प्रत्यक्ष रूप से वातावरण, खाद्य व जल सुरक्षा, ऊर्जा पर होंगे बल्कि इसके परोक्ष प्रभाव मानव स्वास्थ्य, गरीबी और अर्थव्यवस्था पर भी होंगे। विकासशील देशों में, जहाँ अशक्त अर्थव्यवस्था और संसाधन की कमी से लोगों की अनुकूलन क्षमता न्यूनतम है, गंभीर प्रभावों की आशंका है। यहाँ जलवायु परिवर्तन की गंभीरतम घटनाओं जैसे कि बढ़ते तापमान से होने वाली मृत्यु और बीमारियाँ, बाढ़ व अतिवृष्टि से क्षति व अकाल के काफी तेज गति से बढ़ने की संभावना है।

आई.पी.सी.सी. की चौथी रिपोर्ट (2007) ने यह आशंका जाहिर की है कि ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन से सदी के अंत तक पृथ्वी की जलवायु का तापमान 2-4.5 डिग्री सेल्सियस तक बढ़ सकता है। इससे होने वाले बदलाव खाद्य व जल सुरक्षा को सर्वाधिक प्रभावित करेंगे। ऐसा माना जा रहा है कि दक्षिणपूर्व एशियाई देश, अफ्रीका और लातिन अमेरिका जहाँ अधिकतम जनसंख्या कृषि पर आश्रित है, सर्वाधिक प्रभावित होंगे। समुद्री जल स्तर बढ़ने से द्वीप देशों की स्थिति और भी गंभीर होगी और मालदीव जैसे कई देश पूरी तरह जलमग्न हो जाएँगे। यह आशंका है कि जलवायु के तापमान में 1 से 2 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि मात्र से ही ऊष्णकटिबंधीय देशों में खाद्यान्न के उत्पादन में भयंकर गिरावट आएगी जिससे भूख व जलजनित बीमारियों में कई गुना वृद्धि होगी। अकाल व बाढ़ के कारण हिमालय व एन्डीज़ के क्षेत्रों में रहने वाले लाखों लोगों को कई तरह के संकट का सामना करना पड़ेगा। समुद्रतटीय इलाकों व देशों में मानव, वानिकी व जैव-विविधता में अत्यधिक ह्रास के भी संकेत हैं। जलवायु परिवर्तन के मद्देनज़र सहस्त्राब्दि विकास लक्ष्यों की प्राप्ति काफी दुरूह हो सकती है।

उत्सर्जन :

विकासशील देशों ने, जहाँ विश्व की ८० प्रतिशत से अधिक आबादी निवास करती है 1751 से ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जित भंडार में सिर्फ 20 प्रतिशत का योगदान किया है।

बड़े विकासशील देशों जैसे कि भारत, चीन, ब्राजील व दक्षिण कोरिया अभी भी प्रति व्यक्ति उत्सर्जन में विकसित देशों से कई गुना पीछे हैं। विश्व बैंक के अनुसार जहाँ विकसित देशों में प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति उत्सर्जन 13 टन है, विकासशील देशों में यह 3 टन से भी कम है। अमरीका में प्रतिव्यक्ति उत्सर्जन भारत की तुलना में 20 गुना ज्यादा है। विश्व में सिर्फ 15 प्रतिशत जनसंख्या के साथ अमीर देश कार्बन डाइ-ऑक्साइड के 47 प्रतिशत से अधिक उत्सर्जन के लिए जिम्मेदार हैं। विकसित व विकासशील देशों के उत्सर्जित भंडार व समसामयिक उत्सर्जन में भारी अंतर को देखते हुए UNFCCC ने समान व असमान जिम्मेदारी के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धांत के अनुसार यद्यपि जलवायु परिवर्तन को रोकने की जिम्मेदारी सभी देशों के लिए समान है लेकिन ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जित भंडार में विकसित देशों के ऐतिहासिक योगदान को देखते हुए उनकी जिम्मेदारी विकासशील देशों से कहीं अधिक है। विकसित देशों को जलवायु परिवर्तन के खिलाफ संघर्ष में राष्ट्रीय नीतियों, आर्थिक संसाधनों की उपलब्धता व तकनीक ज्ञान के विस्तार व प्रसार में पहल करनी होगी। उन्हें विकासशील देशों को संसाधन व तकनीक उपलब्ध कराकर उनके सतत विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति में योगदान करना पर्यावरणीय समता व न्याय के लिए आवश्यक है।

भारत में जलवायु परिवर्तन :

विकासशील देश होने के नाते अर्थव्यवस्था पर जलवायु परिवर्तन का प्रभाव भारत में गहन चिंता का विषय है। जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा कृषि

पर आधारित है जो कि जलवायु परिवर्तन के प्रति अत्यंत संवेदनशील है। साथ ही विकासशील देश होने के नाते भारत में ऊर्जा की खपत और मांग निरंतर बढ़ती ही रहेगी और जलवायु परिवर्तन के खिलाफ किए जाने वाले प्रयास इसके विकास और प्रगति में अवरोधक होंगे।

हालांकि ऐसा माना जा रहा है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में सेवा क्षेत्र की प्रमुखता के कारण शायद यहाँ उत्सर्जन में बहुत वृद्धि नहीं होगी फिर भी देश की आधी जनसंख्या जिसको अभी भी ऊर्जा व बिजली, पानी, शिक्षा व अन्य मूलभूत सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं, ऊर्जा की मांग बढ़ती ही रहेगी। कई क्षेत्रों में जलवायु परिवर्तन के प्रभाव गंभीर होंगे।

कृषि व खाद्य सुरक्षा :

कृषि अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों में सर्वाधिक प्रभाव होगा। भारत की जनसंख्या का 55-60 प्रतिशत अभी तक कृषि पर आधारित है। हालांकि अर्थव्यवस्था में इसका योगदान निरंतर कम (2007-08 में सिर्फ 17.8 प्रतिशत) होता जा रहा है। कई कारणों से भारतीय कृषि में गिरती हुई उत्पादकता से हम हाल के वर्षों में जूझते रहे हैं। तापमान में 2 डिग्री सेल्सियस से अधिक वृद्धि से कृषि की सकल राजस्व में 9 प्रतिशत की कमी हो सकती है और 3.5 डिग्री सेल्सियस से अधिक वृद्धि की परिस्थिति में यह कमी 25 प्रतिशत तक हो सकती है। अभी भी पिछले दशक में कृषि जगत में बढ़ती हुई लागत और कम होती हुई उत्पादकता और आय के दुष्चक्र ने दो लाख से अधिक किसानों को मौत के घाट उतारा है। जलवायु परिवर्तन से आई मानसून में अनियमितता से कई राज्य (उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, असम)



जहाँ अकाल से पिछले कई वर्षों से प्रभावित होते रहे हैं, वहीं राजस्थान, महाराष्ट्र इत्यादि में अतिवृष्टि ने काफी तबाही मचाई है। आंध्रप्रदेश पहले अकाल और उसके तुरंत बाद बाढ़ की त्रासदी के चलते सर्वाधिक दुःखद उदाहरण रहा है। जलवायु परिवर्तन का प्रभाव ही है कि बाढ़ से प्रभावित होने वाला राज्य असम इस वर्ष अकाल की घोषणा करने वाले शुरुआती राज्यों में से था।

जल सुरक्षा :

जल की गिरती हुई उपलब्धता न केवल कृषि बल्कि जीवन के सारे आयामों को प्रभावित कर रही है। भारत के 70 प्रतिशत भूजल का दोहन कृषि के लिए हो रहा है और उसमें से तकरीबन 70 प्रतिशत सिर्फ धान की खेती के लिए होता है। खाद्य व कृषि संस्थान (FAO) का यह मत है कि पारंपरिक जलस्रोतों के पुनरुद्धार व बेहतर प्रबंधन और भूजल के संवर्द्धन से ही जलसुरक्षा सुनिश्चित की जा सकती है। लेकिन हमारे देश में ऐसे प्रयास कम ही दृष्टिगोचर हैं। भूजल का स्तर और गुणवत्ता दोनों ही अधिकाधिक दोहन से प्रभावित हुई हैं। जिन राज्यों में 20-25 फीट पर पानी उपलब्ध था वहाँ अब जलस्तर 100 फीट से भी नीचे चला गया है। पंजाब व हरियाणा जैसे राज्यों में कृषि व उद्योग पूर्णतः भूजल के अत्यधिक दोहन पर आधारित हैं और स्थिति चिंताजनक है। कई राज्यों में इस वर्ष डीजल पर दी गई सब्सिडी में कमी की गई और कृषि के लिए पंपसेटों द्वारा व बिजली सिंचाई पर प्रतिबंध भी लगाया गया। इन राज्यों में पीने के पानी का संकट गहराता जा रहा है। पारंपरिक स्रोतों के प्रबंधन में भारी अनदेखी की गई है और नए मार्गों, कॉलोनियों व रेल-मार्ग के निर्माण ने स्रोतों के संवर्द्धन को अवरूद्ध किया है। पेयजल की समस्या गंभीर होती जा रही है और पानी की बंद बोतलों ने अब गाँवों में भी अपना साम्राज्य विस्तार किया है।

मानव स्वास्थ्य :

जलवायु परिवर्तन का मानव स्वास्थ्य पर

सीधा प्रभाव यूँ तो अभी स्पष्ट रूप से स्थापित नहीं हो पाया है लेकिन समुचित भोजन की कमी से गिरती हुई प्रतिरोधक क्षमता ने रोगों में भयंकर बढ़ोत्तरी की है। लगभग सभी राज्यों में बच्चों और महिलाओं में कुपोषण की दशा पर कई आंकड़े उपलब्ध हैं। सरकार के न मानने के बावजूद भी कई राज्यों में गरीबी से उपजी भूख से मौतें हुई हैं और हो रही हैं। बाढ़ प्रभावित राज्यों के स्वास्थ्य की स्थिति प्रदूषित पानी द्वारा फैलने वाली बीमारियों की वजह से और भी गंभीर है। सूखे राज्यों में भी भूजल की गुणवत्ता गिरी है। कई राज्यों में पानी में आर्सेनिक की मात्रा स्वास्थ्य की दृष्टि से असह्य है। इसके अतिरिक्त अत्यंत गंभीर घटनाओं से हुई मौतों का अंदाज़ा सहज लगाया जा सकता है। हर वर्ष गर्मियों में लू से मरने वालों की गिनती व सर्दियों में ठण्ड से मरने वालों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। धन के अभाव में व स्वास्थ्य सुविधाओं के अभाव में इलाज न कराने से हुई मौतें सरकारी आंकड़ों से बाहर ही हैं।

पशुधन :

पशुधन का भारत में कृषि, व्यवसाय व घर के कार्यों में बड़ा योगदान रहा है। बदलते हुए मौसम, कृषि में आई कमी का सीधा प्रभाव पशुधन पर पड़ा है। कम होती हुई चारागाह की भूमि और चारे के कम होते उत्पादन ने पशुधन को घर की शान की जगह किसानों की व्यथा बना दिया है। पशुओं को पर्याप्त रूप से चारा नहीं मिल पा रहा है। रासायनिक खाद व कीटनाशकों के इस्तेमाल से चारा भी जहरीला हो रहा है। बढ़ते तापमान ने पशुओं के स्वास्थ्य को भी प्रभावित किया है। पशु अब प्रायः बीमार ही रहते हैं और कम आयु में ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। पशुधन से आयु की कमी से किसानों पर दोहरी मार पड़ी है। किसान औने-पौने दाम पर पशुओं को बेचने को मजबूर हैं। गाँवों में एक चौथाई जानवर भी नहीं बचे हैं।

महिलाएँ :

जलवायु परिवर्तन के महिलाओं पर बहुआयामी प्रभाव हुए हैं। परिवारों में खेती,

भोजन व जल, ऊर्जा व जलावन की जिम्मेदारी अधिकांशतः महिलाओं की ही है। खेती व पारिवारिक आय में कमी, भोजन व जल व ऊर्जा के स्रोतों में कमी की पूर्ति में महिलाओं को अपनी दिनचर्या का एक महत्वपूर्ण भाग इनके पीछे दौड़ने में बीतता है। घरों से दूर होते हुए जल स्रोत महिलाओं के समय व श्रम के लिए बड़ी चुनौती पेश करते हैं। स्वास्थ्य की देखरेख में भी काफी समय बीतता है। पारिवारिक आय में कमी के कई सामाजिक, आर्थिक व पारिवारिक परिणाम महिलाओं पर ही परिलक्षित होते हैं। पलायन करने वाली महिलाओं की स्थिति और भी बदतर है। दुर्बल, एकल महिलाओं की स्थिति अत्यंत चिंताजनक है। जिन परिवारों में पुरुष वृद्ध महिलाओं को गाँवों में छोड़ मजदूरी को गए हैं, उनके लिए अन्य सभी समस्याओं के साथ सुरक्षा भी एक बड़ा मुद्दा है।

गरीबी :

जलवायु परिवर्तन से गरीबी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। ऐसे समुदाय और लोग जो कि गरीबी रेखा से थोड़े ऊपर थे वह गरीबी रेखा के नीचे आ गए हैं। कृषि, खाद्य व जल सुरक्षा में कमी, कुपोषण और गिरती हुई प्रतिव्यक्ति आय से गरीब सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। गाँवों से शहरों की ओर पलायन काफी संख्या में बढ़ रहा है और जहाँ इसने शहरी मूलभूत सुविधाओं और संरचनाओं पर दबाव बढ़ाया है वहीं शहरी झुग्गियों में अप्रवासियों को नारकीय जीवन जीने के लिए मजबूर किया है। ऐसी आशंका है कि तटीय क्षेत्रों में समुद्रतल के बढ़ने पर पलायन काफी बढ़ेगा। भारत सरकार के अनुमान के अनुसार समुद्रतल में 1 मीटर की वृद्धि 70 लाख लोगों को पलायन पर मजबूर कर सकती है। बाढ़, सुखाड़, समुद्री आधियों की पुनरावृत्ति भी पलायन में काफी वृद्धि कर सकती है। बांग्लादेश की संवेदनशील स्थिति को देखते हुए यह भी आशंका है कि बांग्लादेश से भारत में पलायन काफी बढ़ेगा।



जलवायु परिवर्तन को रोकने के लिए अंतर्राष्ट्रीय राजनैतिक व विधिक प्रयास

जलवायु परिवर्तन को रोकने के प्रयास राष्ट्रसंघ के फ्रेमवर्क कन्वेंशन पर आधारित हैं। रियो विश्वसम्मेलन (1992) में अंगीकार की गई यह अंतर्राष्ट्रीय संधि मानवजनित ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन को ऐसे स्तर पर शिथिल करना चाहती है जिससे विश्व की अर्थव्यवस्था, खाद्य व जल सुरक्षा और जैव विविधता को न्यूनतम खतरा हो। फ्रेमवर्क संधि ग्रीनहाउस गैसों के उत्सृजित भंडार में विकसित देशों की ऐतिहासिक जिम्मेदारी को मानते हुए समान व असमान जिम्मेदारी के सिद्धांत को सशक्त करती है। साथ ही यह विकासशील देशों में ऊर्जा की मांग को ध्यान में रखते हुए वैश्विक समुदाय से पर्यावरणीय न्याय व समता को ध्यान में रखते हुए उनसे सहयोग की मांग भी करता है। राष्ट्रसंघ की इस संधि के पालन के लिए एक वार्षिक बैठक Conference of Parties (COP) आयोजित की जाती है जिसमें देशों द्वारा राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर किए गए प्रयासों की समीक्षा की जाती है। संधि ने औद्योगिक राष्ट्रों को ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन को कम कर सन् 2000 तक 1990 के स्तर पर लाने के लिए मामूली लक्ष्य भी दिए हैं। अमरीका, यूरोपियन यूनियन और भारत व चीन सहित सभी प्रमुख देश इस संधि को अंगीकार कर चुके हैं।

क्योटो प्रोटोकॉल :

यह संधि अमरीका व ऑस्ट्रेलिया को छोड़कर विश्व के 162 देशों द्वारा अंगीकार की गई है और इसके प्रावधानों का परिपालन सदस्य

देशों के लिए कानूनी बाध्यता है। इस प्रोटोकॉल के तहत विकसित देशों के लिए उत्सर्जन को कम करने के लक्ष्य निर्धारित किये गए हैं और इसके परिपालन व समीक्षा के लिए प्रावधान बनाए गए हैं। एनेक्स 1 में नामित देशों को प्रोटोकॉल के अनुसार उनके 1990 के उत्सर्जन में 5.2 प्रतिशत की कमी लानी है और यह लक्ष्य प्राप्त करने के लिए उनके पास 2008 से 2012 तक का समय है जिसे प्रथम प्रतिबद्धता के नाम से जाना जाता है। प्रोटोकॉल में बाजार पर आधारित तीन ऐसे प्रावधान बनाए गए हैं जिनसे विकसित देश, विकासशील देशों में निवेश करके कम खर्च पर अपने उत्सर्जन में कमी के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। यह सम्मिलित क्रियान्वयन सी.डी.एम. और उत्सर्जन व्यापार के नाम से जाने जाते हैं। विकासशील देश सी.डी.एम. के तहत अपने देशों में उत्सर्जन में कमी पर नवाचार करके विकसित देशों में कम की गई उत्सर्जन की यूनिट्स को बेचकर पैसा कमा सकते हैं। ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में प्रति टन लार्ड गई कमी के बदले भारतीय उद्यमी 470 रुपये (10 डालर) कमा सकते हैं। हालांकि यह भी एक बड़ी बहस का मुद्दा है कि विकसित देश उत्सर्जन में कमी के लक्ष्य को विकासशील देशों से खरीद रहे हैं, इसका साफ मतलब है कि पैसे के बल पर वह अपनी विलासितापूर्ण जीवनशैली को कायम रखना चाहते हैं जिसके दीर्घकालिक परिणाम गंभीर होंगे।

बाली सम्मेलन (2007) :

बाली सम्मेलन का सर्वप्रमुख

परिणाम ऐसी प्रक्रिया का निर्धारण था जिसके तहत 2012 के बाद औद्योगिक राष्ट्रों के उत्सर्जन में कमी के लक्ष्य निर्धारित किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त बाली सम्मेलन में जलवायु परिवर्तन के खिलाफ संघर्ष के चार महत्वपूर्ण आयाम परिभाषित किए गए जो कि ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में बड़े पैमाने पर कमी, परिवर्तन के आधार पर अनुकूलन, तकनीकी विकास व सहयोग और विकासशील देशों को आर्थिक सहयोग हैं।

कोपेनहेगन सम्मेलन :

सदस्य राष्ट्रों की पंद्रहवीं बैठक (COP 15) 7 से 18 दिसम्बर तक कोपेनहेगन (डेनमार्क) में आयोजित होना निश्चित है। यह काफी महत्वपूर्ण बैठक मानी जा रही है क्योंकि इसे अन्य कई पेचीदे पहलुओं के अलावा 2012 (जब क्योटो प्रोटोकॉल की अवधि समाप्त होगी) के बाद विकसित देशों के उत्सर्जन में कमी के लक्ष्य पर बातचीत व लक्ष्य निर्धारण करना है। विश्व में ऐसी अपेक्षा है कि विकसित देश इस बैठक में अपने लक्ष्यों के मद्देनजर अपनी प्रतिबद्धता घोषित करेंगे, जो कि अभी तक संभव नहीं हो सका है। आर्थिक संसाधन व तकनीक एवं सहयोग उपलब्ध कराने के विषयों पर भी गहन चर्चा व मनमुटाव की आशंका है। पिछली तकरीबन सभी बैठकों में मतैक्य का अभाव व विकसित देशों के कड़ियल रुख की वजह से बैठकों की असफलता के मद्देनजर कोपेनहेगन की बैठक अत्यंत महत्वपूर्ण है।



अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और सौदेबाजी

जलवायु परिवर्तन पर प्रयासों की असफलता के लिए मुख्य जिम्मेदार विकसित देश रहे हैं। उत्सर्जित भंडार में न्यूनतम योगदान करने वाले विकासशील देशों पर उत्सर्जन में कमी करने की प्रतिबद्धता डालने पर उन पर दबाव तो बना ही है साथ ही विकसित देश में राजनैतिक इच्छाशक्ति में भयंकर कमी, राष्ट्रीय प्रयासों के अभाव और फ्रेमवर्क कन्वेंशन व क्योटो प्रोटोकॉल के प्रावधानों के खिलाफ उठाए गए कदमों ने अंतर्राष्ट्रीय प्रयासों को काफी कमजोर किया है। विकसित देश उत्सर्जन में कमी के लक्ष्य की घोषणा करने में भी असफल रहे हैं। जहाँ बाली एक्शन प्लान ने विकसित राष्ट्रों को अपने उत्सर्जन में (1990 के आधार पर) 25-40 प्रतिशत तक की कमी का जनादेश दिया था, विकसित देशों ने उत्सर्जन में 10-15 प्रतिशत कमी लाने का संकेत दिया है। विकसित देशों का यह तर्क कि विकासशील देशों को भी अपने उत्सर्जन में कमी के लक्ष्य निर्धारित करने चाहिए बिल्कुल बेबुनियाद है और क्योटो प्रोटोकॉल में कहीं इसकी चर्चा नहीं है। हालांकि इसके बावजूद भी कई विकासशील देशों ने अपने राष्ट्रीय कानूनों से हरित ऊर्जा आधारित विकास व ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी पर प्रमुखता से ध्यान दिया है। ऐसे देशों में भारत, चीन, ब्राजील, दक्षिण कोरिया इत्यादि प्रमुख हैं जिन्होंने जलवायु परिवर्तन पर अपने राष्ट्रीय एक्शन प्लान की घोषणा भी की है।

अपने सतत विकास व ऊर्जा की मांग को ध्यान में रखते हुए ये देश उत्सर्जन में कमी के लिए लक्ष्य निर्धारण व घोषणा द्वारा प्रतिबद्ध नहीं होना चाहते हैं जो कि क्योटो प्रोटोकॉल के बिल्कुल अनुरूप है। विकसित देशों की यह भी मांग है कि उन्हें लक्ष्य प्राप्ति में सहयोग के लिए और बाजारी प्रावधान दिए जाएँ, हालांकि उत्सर्जन में कमी के लिए बाजारी प्रावधान के अनुभव हतोत्साहित करने वाले और छद्म ही प्रकट हुए हैं।

◆ अमरीका ने 2020 तक अपने उत्सर्जन में

(1990 के मानक से) सिर्फ चार प्रतिशत कमी करने की मंशा जाहिर की है।

- ◆ यूरोपियन यूनियन ने 2020 तक (1990 के मानक से) 20 प्रतिशत कमी की इच्छा जाहिर की है और अन्य विकसित और विकासशील देशों द्वारा उत्साहक प्रयासों से 30 प्रतिशत कमी करने की सोच सकता है।
- ◆ ऑस्ट्रेलिया 2020 तक (2000 के मानक से) 25 प्रतिशत कमी करेगा। उसने 2020 तक (1990 के मानक से) 10-15 प्रतिशत कमी की बात कही है। यह काफी भ्रामक है क्योंकि सोवियत रूस के विघटन के बाद वहाँ उत्सर्जन में 30 प्रतिशत की गिरावट आई है।
- ◆ जापान 2020 तक (2005 के मानक से) 15 प्रतिशत कमी करेगा जो कि वास्तविक तौर पर (1990 के मानक से) सिर्फ 7 प्रतिशत कमी है।
- ◆ यूनाइटेड किंगडम 2020 तक (1990 के मानक से) 30 प्रतिशत कमी करेगा।
- ◆ विकसित देशों के घोषित लक्ष्य निर्धारित लक्ष्य (25-40 प्रतिशत) का आधा भी नहीं है।

जलवायु परिवर्तन पर राजनीति का एक और महत्वपूर्ण पहलू विकासशील देशों में अनुकूलन व तकनीकी सहयोग है। विकासशील देशों को उत्सर्जन में कमी व अनुकूलन के लिए कम से कम एक बिलियन अमरीकी डॉलर प्रतिवर्ष का सहयोग चाहिए। विकसित देशों में यूरोपियन यूनियन के अलावा और कहीं से भी इसमें सहयोग के संकेत नहीं आए हैं। तकनीक, तकनीकी सहयोग और आई.पी.आर. पर प्रगति भी बातचीत व बैठक की सफलता को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा।

भारत व अन्य विकासशील देशों के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह है कि कृषि के अनुकूलन और उसके लिए आर्थिक व तकनीकी

सहयोग पर विस्तार से चर्चा हो, जो कि अभी तक नहीं हुई है। कृषि को विकसित देश ग्रीनहाउस गैस (नाइट्रस ऑक्साइड) के उत्सर्जन के लिए जिम्मेदार मानते हुए यह धारणा रखते हैं कि कृषि को कम किया जाए। इससे विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था व जीवनशैली के प्रति उनकी समझ में कमी और निरादर स्पष्ट दिखता है। इस सदी के अंत तक विश्व की नौ बिलियन जनसंख्या में से पाँच बिलियन इन विकासशील देशों में निवास करेगी और अधिकांशतः कृषि पर आश्रित होगी, न सिर्फ खाद्यान्न बल्कि रोजगार व जीवनयापन के लिए भी। कृषि और वानिकी न सिर्फ ग्रीनहाउस गैसों के वर्तमान उत्सर्जन को कम रखने में महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं बल्कि उत्सर्जित भंडार को कम करने में भी इनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। स्पष्ट है कि कृषि और वानिकी को जलवायु परिवर्तन की बातचीत में प्रमुखता दी जानी चाहिए।

कुल मिलाकर अंतर्राष्ट्रीय राजनैतिक प्रयास इस समस्या के सापेक्ष बचकाने और भ्रामक ही नज़र आते हैं। अंतर्राष्ट्रीय बातचीत का एक मात्र अच्छा पहलू यह रहा है कि महत्वपूर्ण देशों ने यह मान लिया है कि तापमान में वृद्धि को तीन डिग्री सेल्सियस से नीचे और उत्सर्जन को 450 पार्ट्स प्रति मिलियन रखना आवश्यक है। अब विकसित देशों के लिए यह न सिर्फ नैतिक जिम्मेदारी बल्कि आर्थिक दायित्व है कि वह अपनी ऐतिहासिक जिम्मेदारी को समझते हुए विकासशील देशों के साथ प्रयासों में सहयोग करें। साथ ही साथ विकासशील देशों की भूमिका विकसित देशों पर दोषारोपण और आर्थिक संसाधनों की सीमाओं का हवाला देकर खत्म नहीं हो जाती है। यह आवश्यक है कि विकासशील देश भी न्यूनतम कार्बन प्रगति मार्ग प्रशस्त करें और निकट भविष्य में बाध्य लक्ष्य निर्धारित व घोषित करने की मानसिक तैयारी रखें। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि राष्ट्रीय प्रयासों को त्वरित करें।



जलवायु परिवर्तन पर भारत की स्थिति और तैयारी

जहाँ अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत को विकासशील देशों का नेता और एक प्रमुख घटक माना जा रहा है, राष्ट्रीय स्तर व स्थानीय स्तर पर स्थिति बिल्कुल इतर है। भारत ने जुलाई 2008 में राष्ट्रीय एक्शन प्लान की घोषणा की। यह संकेत दिए गए कि प्लान एक आधारभूत संरचना उपलब्ध कराएगा और आठ चिन्हित मिशन पर साल के अंत तक बहुपक्षीय बातचीत (राज्य सरकारें, विभिन्न मंत्रालय और अन्य हितभागी) के विमर्श से विस्तृत मिशन प्लान बनाए जाएंगे। 2009 के अंत तक भी सिर्फ दो प्लान (जल और वनक्षेत्र) ही घोषित हुए हैं। प्रक्रिया बिल्कुल ही अपारदर्शी रही और प्लान के अवयवों पर जितनी कम बात की जाए उतना अच्छा है। अभी तक विभिन्न मंत्रालयों में आपसी संयोजन का घोर अभाव है। जहाँ राष्ट्रीय एक्शन प्लान स्वच्छ ऊर्जा विकास की बात करता है, वहीं नियोजन आयोग की एकीकृत ऊर्जा नीति (Integrated Energy Policy), 2005 कोयले को 2031-32 तक ऊर्जा का मुख्य स्रोत मानती है। वास्तविक स्थिति भी यह है कि गैर-पारंपरिक स्रोत से ऊर्जा उत्पादन की मौजूदा क्षमता में 20 प्रतिशत वृद्धि से भी हम कुल ऊर्जा की 5-7 प्रतिशत मांग ही पूरी कर सकते हैं। जल, वायु और सौर ऊर्जा की असीम संभावनाओं के बाद भी देश में इस पर समुचित प्रगति नहीं हुई है। देश में अभी आधी जनसंख्या के लिए ऊर्जा व बिजली उपलब्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में त्वरित प्रयास अदृश्य हैं। राज्य स्तरों पर जलवायु परिवर्तन पर कोई चिंता नहीं है। देश में कृषि विश्वविद्यालयों में परिवर्तन के आधार पर बीजों इत्यादि में अनुकूलन पर कोई ठोस प्रयास नहीं हो रहे हैं। राज्य सरकारें अभी भी इस बहस का हिस्सा नहीं हैं।

अंतर्राष्ट्रीय बातचीत में भारत प्रति व्यक्ति उत्सर्जन व खपत में न्याय व समता की बात करता है लेकिन यही सिद्धांत देश में लागू नहीं होते। ज्यादातर ऊर्जा व्यवसाय व उद्योगों के लिए है न कि सुदूर प्रांतों में ग्रामीणों और किसानों के लिए। ऐसे क्षेत्रों में ऊर्जा की कमी से मानव जीवन अभी भी एक दशक पीछे है। भारत सरकार आर्थिक व तकनीक सहयोग की अनुपस्थिति में कुछ भी प्रयास करने को राजी नहीं दिखती। यह भी बहस का मुद्दा है कि भारत को ज्यादा आर्थिक संसाधन की आवश्यकता है या राजनैतिक इच्छाशक्ति की।

वास्तविक स्थिति यह है कि भारत की जलवायु परिवर्तन पर अंतर्राष्ट्रीय बातचीत व राजनीति में ज्यादा रुचि है न कि राष्ट्रीय प्रयासों में। शायद हम सभी समझते हैं कि जलवायु परिवर्तन की चुनौती के लिए अंतर्राष्ट्रीय विवाद में अंक बनाने से अधिक अन्य बहुआयामी प्रयासों की आवश्यकता है।

बोया पेड़ बबूल का तो फूल कहाँ से पायें

बीते 50 सालों में मानवीय गतिविधियों से वातावरण में कार्बन डाइ-ऑक्साइड व अन्य ग्रीनहाउस गैसों में भारी इजाफा हुआ है। इससे तापमान बढ़ा, जिसका नतीजा ग्लोबल वार्मिंग के रूप में सामने आया। इस ग्लोबल वार्मिंग ने मानव स्वास्थ्य पर गंभीर विपरीत प्रभाव डाला है -

- ♦ तापमान बढ़ने से संक्रामक रोगों के मिजाज में बदलाव आया है, नतीजतन मौत का खतरा बढ़ा है।
- ♦ भारी बारिश, बाढ़, तूफान जैसी प्राकृतिक आपदाएँ बढ़ी हैं। 1990 में करीब छः लाख लोग आपदाओं के शिकार बने। इनमें से 95 फीसदी मौतें विकासशील देशों में हुईं।
- ♦ तापमान में उतार-चढ़ाव से हिट स्ट्रेस (हाइपरथर्मिया) या जबरदस्त ठण्ड (हाइपोथर्मिया) जैसी समस्याओं, दिल व सांस संबंधी रोगों से मृत्युदर बढ़ी है। पश्चिमी यूरोप में 2003 में रिकार्ड उच्च तापमान का 70 हजार से अधिक मौतों से संबंध था।
- ♦ ग्लोबल वार्मिंग के कारण प्रदूषण में इजाफा दमा का कारण है। करीब तीस करोड़ लोग दमा के शिकार हैं। भारत में लगभग 5 करोड़ और दिल्ली में करीब 9 लाख लोग दमा के मरीज हैं।
- ♦ समुद्र का जलस्तर बढ़ने से तटवर्ती इलाकों में बाढ़ का खतरा बढ़ा। नतीजतन आबादी के विस्थापन की समस्या आ गई है। दुनिया की आधी से अधिक आबादी समुद्र से 60 कि.मी. के दायरे में है। बांग्लादेश में गंगा-ब्रह्मपुत्र डेल्टा क्षेत्र समेत हिंद महासागर में स्थित मालदीव व प्रशांत महासागर में स्थित मार्शल व टुवालू द्वीपों को इससे सर्वाधिक खतरा है।
- ♦ वर्षा चक्र में बदलाव से ताजे पानी का संकट पैदा हो रहा है। दूषित पानी से डायरिया व आँख के संक्रमण का खतरा है। दुनिया में पानी की कमी से हर दस में चार आदमी पहले से प्रभावित हैं। डायरिया से हर वर्ष करीब 18 लाख लोगों की मौत होती है।
- ♦ मौसमी हालात, पानी व मच्छर जैसे संवाहकों के जरिये डेंगू और मलेरिया जैसी संक्रामक बीमारियों के बढ़ने की आशंका पैदा हो गई है। सम्पूर्ण भारत में डेंगू और मलेरिया के मरीजों का ग्राफ बहुत तेजी से बढ़ रहा है।
- ♦ ऊष्णकटिबंधीय क्षेत्र में तापमान बढ़ने व वर्षा के स्तर में भारी बदलाव के कारण खाद्यान्न उत्पादन में कमी हुई है, नतीजतन कुपोषण और खाद्य असुरक्षा का प्रसार हुआ है।

जलवायु परिवर्तन और कृषि

कुछ बातें भारत के संदर्भ में बड़े ही गर्व के साथ कही जाती हैं। जैसे कि भारत गाँवों का देश है, यहाँ की अर्थव्यवस्था का मूल आधार कृषि है, भारत विभिन्न संस्कृतियों का क्षेत्र है। यह बातें सौ फीसदी सही भी हैं परंतु अब शायद इन बातों को गर्व से कहने का समय बीत चुका है। एक तरफ जब देश में किसानों की आत्महत्या की खबरें निरंतर आ रही हैं और किसी भी कृषि क्षेत्र में औसत दर्जे के किसान के मुँह से यह सुना जा सकता है कि “अब खेती में कोई फायदा नहीं है”, तब इन बातों को गर्व से दोहराना संदेहास्पद प्रतीत होता है। कृषि भारतीय जीवनशैली का अभिन्न अंग हमेशा से रही है और सदियों से भारतवासियों की आर्थिक व सांस्कृतिक जिंदगी से जुड़ी रही है। आज भी तकरीबन दो तिहाई जनसंख्या कृषि पर और उससे कहीं ज्यादा जनसंख्या कृषि उत्पादों पर निर्भर है। भोजन की दृष्टि से तो सारी आबादी ही कृषि पर निर्भर है क्योंकि भोजन का खाद्यान्न के अतिरिक्त कोई और विकल्प संभव ही नहीं। यह स्पष्ट है कि जीवन कृषि पर निर्भर है और कृषि पूर्णतः मानसून के अनिश्चित मिजाज पर। यह एक बड़ी विडम्बना है जिसका कोई स्थायी उपाय अब तक संभव नहीं हो सका है। नतीजतन अतिवृष्टि, सूखा, बाढ़ कृषि को प्रभावित करते रहे हैं।

आखिर क्यों कृषि अब पहले की तरह समृद्ध नहीं रही? आखिर क्यों औसत दर्जे का किसान यह कहने पर मजबूर है कि अब कृषि से कोई फायदा नहीं है? और क्यों वह कृषि की बजाय अन्य उद्यमों की ओर आकर्षित हो रहा है? जवाब एक ही है - कृषि के लिए आवश्यक परिस्थितियों, संसाधनों का अभाव।

यहां संसाधनों से तात्पर्य कृषि उपकरणों, बीज उपलब्धता या खाद से नहीं है। तात्पर्य है उन संसाधनों से जो प्राकृतिक हैं। कृषि का जो चक्र रहा है उसमें निश्चित समय पर प्राकृतिक परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। बीज बोते समय कृषि भूमि में कितनी नमी हो,

कितनी गर्मी हो कि बीज बोया जाए, बीज बोने के उपरांत कितने समयांतराल पर कितना पानी उपलब्ध हो, ये ऐसी चीजें थीं जिनके आधार पर किसान उपज का पूर्वानुमान लगाता था। परंतु वर्तमान परिस्थितियों में किसान न तो पूर्वानुमान ही लगा पाते हैं और न ही इसे सुनिश्चित करने का कोई उपाय तलाश पाते हैं। कारण है जलवायु में हो रहा परिवर्तन, जिसके चलते बाढ़, सूखा जैसी प्राकृतिक आपदाओं ने तो कृषि को प्रभावित किया ही है साथ ही निरंतर घटता जा रहा भू-जल स्तर कृषि के लिए स्थाई समस्या बन चुका है। यह भी एक विचित्र विडम्बना है कि एक ओर समुद्री जलस्तर बढ़ने से कई द्वीपों व समुद्र किनारे बसे शहरों के तबाह होने का खतरा है और दूसरी ओर भू-जल का स्तर दिन-ब-दिन नीचे गिरता जा रहा है जिससे पेय जल की तक समस्या आन खड़ी हुई है। कुछ साल पहले तक किसान या आम आदमी सिर्फ इन समस्याओं से जूझता था, इन बदलती जा रही परिस्थितियों को महसूस करता था पर अब वह इसके कारण को भी जानने लगा है। कारण यानि ग्लोबल वार्मिंग - जलवायु परिवर्तन। शिक्षित और तकनीकी ज्ञान से परिष्कृत लोगों के अलावा एक अशिक्षित किसान भी आज इस बात को जानने लगा है कि धरती गर्म होती जा रही है, बीज के स्वस्थ अंकुरण के लिए आवश्यक पर्याप्त नमी और गर्मी का संतुलन कृषि भूमि में अब पहले जितना सहज नहीं रहा है, और रासायनिक उर्वरकों के इस्तेमाल ने फसल की गुणवत्ता के साथ-साथ भूमि की उपजाऊ शक्ति को भी किस हद तक प्रभावित किया है। फसल के लिए पानी की अनुपलब्धता तो एक स्थाई समस्या बनती ही जा रही है, पिछले कुछ समय में पिघलते ग्लेशियर, बाढ़, भू-स्खलन, तूफान, समुद्री जल स्तर का बढ़ना और भू-जल स्तर का नीचे जाना ग्लोबल वार्मिंग की ही देन हैं।

“ डिजास्टर मैनेजमेंट इन इण्डिया’ की स्टेटस रिपोर्ट की मानें तो देश का 85 प्रतिशत हिस्सा एकाधिक आपदाओं के दायरे में

आता है। 40 मिलियन हेक्टेयर जमीन बाढ़, 8 फीसदी चक्रवात और 68 फीसदी जमीन सूखे के दायरे में आती है। दूसरी ओर पिछले सौ सालों में देश में बाढ़, सूखा, भूकम्प, तूफान, सुनामी और भू-स्खलन जैसी प्राकृतिक आपदाओं का ग्राफ लगभग सौ फीसदी की रफ़्तार से बढ़ा है। विश्व बैंक की रिपोर्ट के मुताबिक 1996 से 2000 के बीच देश को सकल घरेलू उत्पाद का 2.25 प्रतिशत और राजस्व का 12.5 प्रतिशत हिस्से का नुकसान उठाना पड़ा है। रिपोर्ट में इसके मूल में भौगोलिक परिस्थितियों, संसाधनों की कमी और आपदाओं से लड़ने की तैयारियों के अभाव के साथ ही जलवायु परिवर्तन के कारण बढ़ते प्रदूषण को जिम्मेदार ठहराया गया है।”

इस बात को स्वीकार करने में कोई झिझक नहीं होनी चाहिए कि आज मानवनिर्मित कारणों से ही दुनिया ख़तरे में है। हिमालय से ही जीवनदायिनी गंगा निकलती है और अब हिमालय के ही तकरीबन 8 हजार ग्लेशियर जिस तेजी से पिघल रहे हैं उससे कृषि योग्य भूमि के डूबने की आशंका तो उत्पन्न हुई ही है साथ ही समुद्र का जल स्तर बढ़ने से कई द्वीप और तटवर्ती इलाके जलमग्न होने और लोगों को अपनी जान बचाने का संकट भी पैदा हुआ हुआ है।

जलवायु परिवर्तन के बारे में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित संयुक्त राष्ट्र के अंतरशासकीय समिति के अध्यक्ष डॉ. आर.के. पचौरी ने बहुत स्पष्ट रूप से यह चेतावनी दी है कि ‘भारत सहित कई देशों की कृषि पैदावार जलवायु परिवर्तन के कारण बुरी तरह प्रभावित होगी। गेहूँ, चावल तथा दाल की पैदावार पर इसका ज्यादा प्रभाव पड़ेगा।’ यह स्पष्ट है कि भारत की अधिकांश आबादी का मुख्य भोजन, गेहूँ, दाल और चावल ही है इसलिये इस उत्पादन में होने वाली कमी से भारत में पड़ने वाले प्रभाव का अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है। इससे निजात पाने के लिए किसानों को



आई.पी.सी.सी.

क्या है ?

जलवायु परिवर्तन पर अंतरशासकीय समूह (आईपीसीसी) एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था है जो पूरे विश्व में ग्रीनहाउस गैसों के बढ़ते स्तर का आंकलन करती है और उस सूचना को अपनी रिपोर्ट के ज़रिये नीति-निर्धारकों तक पहुँचाती है।

विश्व मौसम विज्ञान संगठन (डब्ल्यू.एम.ओ.) और संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी) ने जलवायु परिवर्तन के बारे में हमारे ज्ञानवर्द्धन हेतु वैज्ञानिक एवं सामाजिक आर्थिक सूचनाओं के आंकलन, इसके संभावित प्रभाव तथा अनुकूलन और शमन का सुझाव देने के लिए 1988 में आईपीसीसी का गठन किया था।

इसकी सदस्यता यूएनईपी और डब्ल्यूएमओ के सभी सदस्य देशों के लिए खुली है। समूह की बैठक वर्ष में एक बार होती है जिसमें आईपीसीसी की संरचना, प्रक्रियाओं और कार्यक्रमों के बारे में निर्णय लिया जाता है और आईपीसीसी के अध्यक्ष का चुनाव होता है।

आईपीसीसी स्वयं न तो कोई शोध करती है और न ही जलवायु संबंधी कोई आंकड़े तैयार करने का काम करती है। यह जलवायु संबंधी परिवर्तनों और आंकड़ों पर नज़र रखती है। सरकारों और अंतरराष्ट्रीय संगठनों द्वारा विशिष्ट कार्यों के लिए विशेषज्ञों के दल का नामांकन किया जाता है जो इस समूह के लिए प्रतिवेदन तैयार करता है। इन विशेषज्ञों का चयन 100 से अधिक देशों से किया जाता है। इसके अतिरिक्त समीक्षा के दौरान सैकड़ों विशेषज्ञ भी भाग लेते हैं।

प्रथम आईपीसीसी आंकलन प्रतिवेदन 1990 में जलवायु परिवर्तन की समस्या का सामना करने के लिए नीतिगत ढांचा तैयार करने का सुझाव दिया गया था, जबकि 1995 में प्रकाशित इसके द्वितीय प्रतिवेदन ने 1997 में क्योटो संधि को अपनाते का मार्ग प्रशस्त किया था। 2001 में प्रकाशित तृतीय प्रतिवेदन को जलवायु परिवर्तन पर विचार-विमर्श के लिए महत्वपूर्ण संदर्भ ग्रंथ के रूप में देखा जाता है।

जल तथा प्राकृतिक संसाधनों के संयमित दोहन की ज़रूरत है। जिस प्रकार अधिकाधिक उपज प्राप्त करने की लालसा में भू-जल का दोहन और रासायनिक उर्वरकों का इस्तेमाल किया जा रहा है वह इस समस्या को और अधिक गंभीर बना रहा है। इसलिए अब किसानों को कृषि के तौर-तरीकों और फसल चक्र में बदलाव लाने की ज़रूरत है। साथ ही वर्षों से उपजे पारंपरिक ज्ञान को भी महत्वपूर्ण स्थान देने की ज़रूरत है ताकि कम पानी और सूखे की स्थिति में पर्याप्त उपज प्राप्त की जा सके। डॉ. पचौरी ने वर्ष 2007 में अपनी चौथी मूल्यांकन रिपोर्ट में वैश्विक तापमान में 4 डिग्री सेल्सियस बढ़ोत्तरी की संभावना व्यक्त की है जिसका सीधा मतलब है बारिश के पैटर्न में भारी बदलाव। निःसंदेह इससे विद्युत, जल संसाधन और जैव विविधता पर प्रभाव पड़ेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि रासायनिक उर्वरकों के इस्तेमाल को कम करते हुए जैविक खेती पर ध्यान दिया जाए, क्योंकि जलवायु परिवर्तन की वजह से जब सूखी मिट्टी और ज्यादा सूखी होती जा रही है, जैविक खाद के उपयोग से न केवल भूमि की उर्वरता बढ़ेगी बल्कि उसमें नमी की वजह से काफी हद तक सूखे की समस्या से भी निजात मिलेगी। वर्तमान में 180 लाख हैक्टेयर बंजर भूमि का भविष्य में संवर्द्धन करने में जैव उर्वरक एक प्रमुख भूमिका निभा सकते हैं। भारतीय कृषि तथा अनुसंधान परिषद, कृषि विश्वविद्यालय तथा अनुसंधान प्रयोगशालाएँ और वर्षों के अनुभव से उपजा पारंपरिक कृषि ज्ञान इस दिशा में सार्थक पहल कर सकते हैं।

ग्लोबल वार्मिंग के प्रभाव के चलते कृषि के संदर्भ में पानी की कमी के अतिरिक्त पर्यावरण पर पड़ने वाला दुष्प्रभाव और उसका अप्रत्यक्ष रूप से खेती पर प्रभाव नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता। विकास और औद्योगीकरण के नाम पर जंगलों का अंधाधुंध कटान, पहाड़ों का कटाव और उसके कारण वर्षा चक्र में उत्पन्न अनियमितता किसी से छुपी नहीं है। जिसका परिणाम भूमि के कटाव, भू-स्खलन के रूप में सामने है जो सीधे-सीधे कृषि को प्रभावित करता

है। वहीं दूसरी ओर ग्लोबल वार्मिंग के चलते जिस गति में वाष्पीकरण और अन्य माध्यमों से जल का हनन हो रहा है उसके सापेक्ष जल संवर्द्धन, वर्षा जल एकत्रीकरण के उपाय नहीं किये गए हैं। जंगलों का जिस गति से कटाव हुआ है और जिस गति से औद्योगीकरण की दौड़ में हम शामिल हुए हैं उसके चलते वायुमण्डल में कार्बन उत्सर्जन व अवशोषित करने का समीकरण गड़बड़ाया है। जिसका एक मात्र उपाय है कि ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को कैसे नियंत्रित किया जाए। इसके लिए ग्रीनर ट्रांसपोर्ट, भवन ऊर्जा का कुशल उपयोग, वैकल्पिक ऊर्जा का उपयोग और परमाणु ऊर्जा का उत्पादन बढ़ाने जैसे उपाय सुझाए गए हैं। परंतु इसके साथ-साथ हमें वृक्षारोपण और पास्थितिकी संतुलन के साथ ही ऊर्जा के संरक्षण पर भी जोर देना होगा। ईंधन के रूप में बायो फ्यूल का उपयोग किसी हद तक प्रदूषण में कमी लाएगा परंतु उससे ज्यादा बड़ा सवाल यह है कि बायो फ्यूल फसलें उगाने से हमारी खाद्यान्न उपलब्धता कितनी प्रभावित होगी, खासकर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में। इस संदर्भ में विचार करना बहुत ही आवश्यक है क्योंकि सरकार द्वारा एथनॉल तथा जेट्रोफा की खेती पर पहले ही कार्य किया जा रहा है।

वर्तमान में जलवायु परिवर्तन का जो स्पष्ट प्रभाव देखा जा रहा है वह खाद्यान्न असुरक्षा के रूप में सामने आ रहा है। वहीं प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन और रासायनिक उर्वरकों के उपयोग से खाद्यान्न की गुणवत्ता प्रभावित हुई है साथ ही तमाम किस्म की बीमारियों का उद्भव भी हुआ है। अर्थात् जलवायु परिवर्तन मनुष्य के सर्वांगीण विकास के तत्वों - आजीविका, भोजन, स्वास्थ्य, संस्कृति और सामाजिक संबंधों - को नकारात्मक रूप से प्रभावित कर रहा है। इसके यथेष्ट समाधान के लिए आवश्यक है कि हम अपने अतीत के अनुभवों और ज्ञान से सबक लें और ऐसे उपायों पर ध्यान केन्द्रित करें जो कि खाद्य सुरक्षा को सुनिश्चित करते हुए जलवायु परिवर्तन के लिए कारगर साबित हों।

जलवायु परिवर्तन : बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों पर प्रभाव

पटना (बिहार) में आयोजित जन-सुनवाई

विकास की दौड़ में सबसे आगे निकल जाने के लिए हमने सब कुछ ताक पर रख दिया है। भविष्य के बारे में न सोचकर अपने वर्तमान का हम इस प्रकार दोहन कर रहे हैं जैसे कोई उसी डाल को काट रहा हो जिस पर वह खुद बैठा है। इस विकास की होड़ में हम यह भूल गए कि आने वाले दिनों में मानव समाज को किस प्रकार के परिणाम झेलने पड़ेंगे।

परिणाम अब स्पष्ट रूप से सामने आ रहे हैं। पूरे विश्व में गंभीर रूप से जलवायु परिवर्तन देखे जा रहे हैं और इसके प्रभाव से विश्व के अनेक देश और उनके निवासी ग्रस्त हैं। इसका सबसे ज्यादा प्रभाव छोटे एवं लघु किसानों पर पड़ा है। बाकी गरीब भी इस देश को लगातार झेल रहे हैं। खेती और मजदूरी पर यह सीधे रूप से प्रभाव डाल रहा है जिसका असर गरीबों की आजीविका पर सामान्यतः देखा जा सकता है।

इस वर्ष के दिसम्बर माह में कोपेनहेगन में विश्व के सारे देश इस पर चर्चा करने के लिए एक बैठक में मिल रहे हैं। इस बैठक के मद्देनजर भारत में भी तैयारियां की जा रही हैं। यह प्रयास किया जा रहा है कि जलवायु परिवर्तन के अच्छे-बुरे एवं भयंकर अनुभवों को कोपेनहेगन बैठक में विश्व मंच के सामने रखा जाए।

ऑक्सफेम इण्डिया के सहयोग से भारत के विभिन्न क्षेत्रों जैसे - बाढ़ प्रभावित, हिमालय क्षेत्र, समुद्री क्षेत्र, जंगली क्षेत्र, शहरी क्षेत्र और वर्षा आधारित/सूखा क्षेत्र - में 6 स्थानों पर जनसुनवाई का आयोजन किया जा रहा है। इन सुनवाईयों में सामने आए तथ्यों को एकत्रित कर दिल्ली में एक सम्मिलित बैठक नवम्बर माह में होगी। इन सुनवाईयों से उभरे विभिन्न पहलुओं पर चर्चा कर उन्हें भारत की ओर से विश्व मंच के सामने कोपेनहेगन में प्रस्तुत किया जाएगा। ऐसी ही

एक जनसुनवाई 10 अक्टूबर 2009 को पटना में आयोजित की गई। जनसुनवाई का विषय बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों में हो रहे जलवायु परिवर्तन का प्रभाव था। खासतौर पर उत्तरप्रदेश और बिहार के बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों से आए करीब 12 साक्ष्यों ने अपनी बात रखी। सुनवाई छः प्रतिष्ठित लोगों के एक ज्यूरी दल के सामने की गई। ज्यूरी सदस्यों में श्री शिराज वजीह (गोरखपुर एनवायरनमेंटल एक्शन ग्रुप), श्री आर.आर. प्रसाद (सदस्य, बिहार मानवाधिकार आयोग), श्री संतोष कुमार (राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन संस्थान), डॉ. रमेश शरन (प्राध्यापक) व डॉ. ऊषा किरण शामिल थे। जनसुनवाई के मुख्य अतिथि बिहार आपदा प्रबंधन मंत्री श्री देवेन्द्र शर्मा थे।

पटना में आयोजित जलवायु परिवर्तन पर जनसुनवाई में निम्नलिखित मुद्दे उभर कर सामने आए -

- ♦ जलवायु परिवर्तन अब मात्र राष्ट्रीय स्तर पर वार्ता का विषय नहीं रहा है बल्कि लोगों ने इसके प्रभाव को ज़मीनी स्तर पर महसूस किया है।
- ♦ लोगों और खासतौर पर किसानों ने 45-50 साल के अपने अनुभव के आधार पर इसे तौला है।
- ♦ वर्षा और मौसम संबंधित हमारे पारंपरिक सूचक जिनका ज्ञान हमारी लोकोक्तियों में मौजूद है अब झूठे साबित हो रहे हैं। हजारों साल के ज्ञान के आधार पर गठित हमारे देशज तरीके अब वर्षा और मौसम का आंकलन करने में सक्षम नहीं हैं। अर्थात् जलवायु परिवर्तन स्पष्ट रूप से महसूस किया जा रहा है।
- ♦ स्थानीय लोग अलग-अलग तरीकों से इससे जूझ रहे हैं। देशज ज्ञान को और आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। किसान का किसान से

क्योटो प्रोटोकॉल

यूनाइटेड नेशंस फ्रेमवर्क कन्वेंशन ऑन क्लाइमेट चेंज के तहत 1 दिसम्बर 1998 को जापान के क्योटो शहर में हुए सम्मेलन में जलवायु परिवर्तन के खतरों से निपटने के लिए ग्रीन हाउस गैसों में कमी लाने का संकल्प लिया गया था, जिसे क्योटो प्रोटोकॉल के नाम से जाना जाता है। अब तक इसमें भारत समेत 182 देशों ने हस्ताक्षर किये हैं जो कुल 70 फीसदी ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन करते हैं। 16 फरवरी 2005 से इसे हस्ताक्षर करने वाले सभी देशों ने लागू कर दिया है लेकिन अमेरिका ने हस्ताक्षर करने के बावजूद इसे लागू नहीं किया। यूरोपियन यूनियन ने भी इसमें दिलचस्पी नहीं ली है, हालांकि यूरोपियन यूनियन के देशों ने अपने ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी लाने के लिए अलग से प्रयास किये हैं। क्योटो प्रोटोकॉल में मुख्य लक्ष्य यह रखा गया है कि 2012 तक विकासशील देश ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में 5.2 फीसदी की कमी लाकर उत्सर्जन को 1990 के स्तर से नीचे तक ले आएं, जिसके लिए क्लीन डेवेलपमेंट मैनेजमेंट (सीडीएम) का प्रावधान है। इसके तहत प्रदूषणकारी तकनीकों को बदलकर स्वच्छ प्रौद्योगिकी अपनाने वाले उद्यमों के लिए कार्बन क्रेडिट की सुविधा दी गई है इससे उद्यमों को स्वच्छ प्रौद्योगिकी अपनाने में मदद मिलती है। परंतु विकासशील देशों की दृष्टि यह है कि इसके लिए उन्हें भारी निवेश की ज़रूरत है। दूसरे, विकासशील देशों में औद्योगिकीकरण बढ़ रहा है जो इन प्रावधानों को अपनाने से प्रभावित हो सकता है।



संवाद स्थापित करवाने के लिए एक संस्थागत व्यवस्था तैयार करने की आवश्यकता है।

- ◆ हमारी खेती में विविधता है, हमारे यहां मिश्रित फसल का प्रचलन है। कृषि के क्षेत्र में हो रहे शोध को इस विविधता की दिशा में आगे बढ़ना होगा न कि हरित क्रांति की दिशा में।
- ◆ महिलाओं ने जलवायु परिवर्तन को स्वास्थ्य के साथ जोड़कर देखा है।
- ◆ जलवायु परिवर्तन समग्र विकास का मुद्दा है। इसे कृषि, स्वास्थ्य, रोजगार, उद्योग जैसी धाराओं में नहीं बांटा जा सकता। लोगों ने इसके प्रभाव को एक साथ जोड़कर देखा है जो कि एक अच्छा संकेत है।
- ◆ कृषि क्षेत्र में हो रहे शोध को और वृहद् करना होगा। स्थिति से निपटने के लोगों के स्थानीय उपायों के प्रचार की आवश्यकता है।
- ◆ आपदा आने के बाद देश हजारों करोड़ रुपये खर्च करने में नहीं झिझकता पर यही खर्च यदि आपदा के पहले किया जाए तो लाखों लोगों को बचाया जा सकता है।
- ◆ विकास के सुख कोई और भोग रहा है और उसके प्रभाव से नुकसान किसी और को हो रहा है। विकास के सूचक को बदलना होगा। समाज के अंतिम व्यक्ति को सुखमय बनाए बिना हम विकसित नहीं हो सकते।

इन्हीं जनसुनवाईयों के क्रम में अगली सुनवाई जयपुर में दिनांक 4 नवम्बर को आयोजित की जाएगी जिसका विषय है - वर्षा आधारित/सूखे क्षेत्र में जलवायु परिवर्तन के प्रभाव।

जलवायु परिवर्तन पर प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन व संधियाँ

- | | |
|---|---|
| १. अंतर्राष्ट्रीय मानव पर्यावरण सम्मेलन, स्टॉकहोम, 1972 | - मानव विकास एवं पर्यावरण के संबंध |
| | - विकास और पर्यावरण के मध्य के संघर्षों को कम करने वाले प्रयास |
| | - प्रशासनिक और विधायी प्रयासों का क्रियान्वयन |
| २. हेलसिंकी सम्मेलन, 1974 | - सामुद्रिक पर्यावरण की सुरक्षा |
| ३. लंदन सम्मेलन, 1975 | - समुद्र में कचरे के निस्तारण का प्रतिषेध |
| ४. यूरोपीय वन्य जीव तथा प्राकृतिक निवास क्षेत्र संरक्षण सम्मेलन, 1979 | - प्रजाति संरक्षण |
| ५. विएना सम्मेलन, 1985 | - ओजोन आवरण का संरक्षण |
| ६. मांट्रियल उपसंधि, 1987 | - ओजोन विखंडन करने वाले पदार्थों के उत्पादन और उपयोग को प्रतिबंधित करने के लिए समय-सीमा का निर्धारण |
| ७. रियो सम्मेलन (पृथ्वी सम्मेलन), 1992 | - पर्यावरण विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग |
| ८. नैरोबी घोषणा-पत्र, 1997 | - अंतर्राष्ट्रीय संधियों का प्रभावकारी क्रियान्वयन |
| ९. क्योटो सम्मेलन, 1997 | - ग्रीनहाउस गैसों की पहचान |
| | - भूमंडलीय ताप को कम करना |
| १०. माल्मो घोषणा-पत्र, 2000 | - पर्यावरण संरक्षण में निजी क्षेत्र की भूमिका |
| ११. इंफोटेरा, डबलिन, 2000 | - पर्यावरण सूचना का विस्तार |
| १२. पृथ्वी सम्मेलन, जोहान्सबर्ग, 2002 | - सतत विकास |

पर्यावरण संबंधी प्रमुख कानून

- | | |
|--|---|
| ◆ भारतीय विस्फोटक पदार्थ कानून, 1908 | ◆ कीटनाशक कानून, 1968 |
| ◆ विष कानून, 1919 | ◆ वन्य जीवन (सुरक्षा) कानून, 1972 |
| ◆ भारतीय वन कानून, 1927 | ◆ विकिरण सुरक्षा कानून, 1972 |
| ◆ खान एवं खनिज (विनियमन एवं विकास) कानून, 1947 | ◆ जल (प्रदूषण निरोध एवं नियंत्रण) कानून, 1974 |
| ◆ कारखाना कानून, 1948 | ◆ वायु (प्रदूषण निरोध एवं नियंत्रण) कानून, 1981 |
| ◆ उद्योग (विकास एवं विनियमन) कानून, 1951 | ◆ पर्यावरण (सुरक्षा) कानून, 1986 |
| ◆ परमाणु ऊर्जा कानून, 1962 | ◆ भारतीय मत्स्यन कानून, 1997 |

अकेले नहीं आता अकाल

अनुपम मिश्र

अकाल की पदचाप साफ सुनाई दे रही है। सारा देश चिंतित है। यह सच है कि अकाल कोई पहली बार नहीं आ रहा है, लेकिन इस अकाल में ऐसा कुछ होने वाला है, जो पहले कभी नहीं हुआ। देश में सबसे सस्ती कारों का वादा पूरा किया जा चुका है। कार के साथ ऐसे अन्य यंत्र-उपकरणों के दाम भी घटे हैं, जो 10 साल पहले बहुत सारे लोगों की पहुँच से दूर होते थे। इस दौर में सबसे सस्ती कारों के साथ सबसे महंगी दाल भी मिलने वाली है, यही इस अकाल की सबसे भयावह तस्वीर होगी। यह बात औद्योगिक विकास के विरुद्ध नहीं कही जा रही है, लेकिन इस महादेश के बारे में जा लोग सोच रहे हैं, उन्हें इसकी खेती, इसके पानी, अकाल, बाढ़ सबके बारे में सोचना होगा।

हमारे यहां एक कहावत है, 'आग लगने पर कुँआ खोदना'। कई बार आग लगी होगी और कई बार कुँए खोदे गए होंगे, तब अनुभवों की मथानी से मथकर ही ऐसी कहावत मक्खन की तरह ऊपर आई होगी। लेकिन कहावतों को लोग या नेतृत्व जल्दी भूल जाते हैं। मानसून अपने रहे-सहे बादल समेटकर लौट चुका है। यह साफ हो चुका है कि गुजरात जैसे अपवाद को छोड़ दें तो इस बार पूरे देश में औसत से बहुत कम पानी गिरा है।

अकाल की आग लग चुकी है और अब कुँआ खोदने की तैयारी चल रही है। लेकिन देश के नेतृत्व का- सत्तारूढ़ और विपक्ष का भी पूरा ध्यान लगता नहीं कि कुँआ खोदने की तरफ है। अपने-अपने घर-परिवार के चार-चार आना कीमत के झगड़ों में शीर्ष नेतृत्व जिस ढंग से उलझा पड़ा है, उसे देख उन सबको बड़ी शर्म आती होगी, जिन्होंने अभी कुछ ही महीने पहले इनके या उनके पक्ष में मत डाला था। केन्द्र की पार्टियों में चार आने के झगड़े हैं, पतंगें कट रही हैं, मांजा लपटा जा रहा है तो उधर राज्यों की पार्टियों में भी दो आने के झगड़े-टंटे चल रहे हैं। अकाल के कारण हो रही आत्महत्याओं की खबरें यहां राजा के बेटे को राजा बना देने की खबरों से ढंक गई हैं। वहीं अकाल के बीच लग रही पत्थर की मूर्तियां हमारे नेतृत्व का पत्थर-दिल बता रही हैं।

कई बातें बार-बार कहनी पड़ती हैं। इन्हीं में एक बात यह भी है कि अकाल कभी अकेले नहीं आता। उससे बहुत पहले अच्छे विचारों का अकाल पड़ने लगता है। अच्छे विचारों का अर्थ है अच्छी योजनाएं, अच्छे काम। अच्छी योजनाओं का

अकाल और बुरी योजनाओं की बाढ़। पिछले दौर में ऐसा ही कुछ हुआ है। देश को स्वर्ग बना देने की तमन्ना में तमाम नेताओं ने स्पेशल इकॉनॉमिक जोन, सिंगूर, नंदीग्राम और ऐसी ही न जाने कितनी बड़ी-बड़ी योजनाओं पर पूरा ध्यान दिया। इस बीच यह भी सुना गया कि इतने सारे लोगों द्वारा खेती करना जरूरी नहीं है। एक ज़िम्मेदार नेता की तरफ से यह भी बयान आया कि भारत को गांवों का देश कहना जरूरी नहीं है। गांवों में रहने वाले शहरों में आकर रहने लगे तो हम उन्हें बेहतर चिकित्सा, बेहतर शिक्षा और बेहतर जीवन के लिए तमाम सुविधाएं आसानी से दे सकेंगे। इन्हें लगता होगा कि शहरों में रहने वाले सभी लोगों को ये सभी सुविधाएं मिल ही चुकी हैं। इसका उत्तर तो शहर वाले ही देंगे।

लेकिन इस बात को यहीं छोड़ दीजिए। अब हमारे सामने मुख्य चुनौती है खरीफ की फसल को बचाना और आने वाली रबी की फसल की ठीक-ठीक तैयारी। दुर्भाग्य से इसका कोई बना-बनाया ढांचा सरकार के हाथ फिलहाल नहीं दिखता। देश के बहुत बड़े हिस्से में कुछ साल पहले तक किसानों को इस बात की खूब समझ थी कि मानसून के आसार अच्छे न दिखें तो पानी की कम मांग करने वाली फसलें बो ली जाएं। इस तरह के बीज पीढ़ियों से सुरक्षित रखे गए थे। कम प्यास वाली फसलें अकाल का दौर पार कर जाती थीं। लेकिन आधुनिक विकास के दौर ने, नई नीतियों ने किसान के इस स्वावलंबन को अनजाने में ही सही, पर तोड़ा जरूर है। लगभग हर क्षेत्र में, धान, गेहूँ, ज्वार, बाजरा के हर खेत

में पानी को देखकर बीज बोने की पूरी तैयारी रहती थी। अकाल के अलावा बाढ़ तक को देखकर बीजों का चयन किया जाता था। पर 30-40 साल के आधुनिक कृषि विकास ने इस बारीक समझ को आमतौर पर तोड़ डाला है। पीढ़ियों से एक जगह रहकर वहां की मिट्टी, पानी, हवा, बीज, खाद - सब कुछ जानने वाला किसान अब छः-आठ महीनों में ट्रांसफर होकर आने-जाने वाले कृषि अधिकारी की सलाह पर निर्भर बना डाला गया है।

किसानों के सामने एक दूसरी मजबूरी उन्हें सिंचाई के अपने साधनों से काट देने की भी है। पहले जितना पानी मुहैया होता था, उसके अनुकूल फसल ली जाती थी। अब नई योजनाओं का आग्रह रहता है कि राजस्थान में भी गेहूँ, धान, गन्ना, मूंगफली जैसी फसलें पैदा होनी चाहिए। कम पानी के इलाके में ज्यादा पानी मांगने वाली फसलों को बोने का रिवाज बढ़ता ही जा रहा है। इनमें बहुत पानी लगता है। सरकार को लगता है कि बहुत पानी देने को ही तो हम बैठे हैं। ऐसे इलाकों में अरबों रुपयों की लागत से इंदिरा नहर, नर्मदा नहर जैसी योजनाओं के जरिए सैकड़ों किलोमीटर दूर का पानी सूखे बताए गए इलाके में लाकर पटक दिया गया है। लेकिन यह आपूर्ति लंबे समय तक के लिए निर्बाध नहीं चल पाएगी।

इस साल हर जगह जितना कम पानी बरसा है उतने में हमारे स्वनामधन्य बांध भी पूरे नहीं भरे हैं। और अब उनसे निकलने वाली नहरों में सब खेतों तक पहुंचने वाला पानी नहीं बहने वाला है। कृषि मंत्री ने यह

भी घोषणा की है कि किसानों को भूजल का इस्तेमाल कर फसल बचाने के लिए 10 हजार करोड़ रुपए की डीजल सब्सिडी दी जाएगी। यह योजना एक तो ईमानदारी से लागू नहीं हो पाएगी और अगर ईमानदारी से लागू हो भी गई तो अकाल के समय दोहरी मार पड़ सकती है - मानसून का पानी नहीं मिला है और जमीन के नीचे का पानी भी फसल को बचाने के मोह में खींचकर खत्म कर दिया जाएगा। तब तो अगले बरसों में आने वाले अकाल और भी भयंकर होंगे।

इस समय सरकारों को अपने-अपने क्षेत्रों में ऐसे इलाके खोजने चाहिए, जहां कम पानी गिरने के बाद भी अकाल की उतनी काली छाया नहीं दिखती, बाकी क्षेत्रों में जैसा अंदेशा है। पूरे देश के बारे में बताना तो कठिन है पर राजस्थान में अलवर ऐसा इलाका है जहां साल में 25-26 इंच पानी गिरता है। इस बार तो उसका आधा ही गिरा है। फिर भी वहां के एक बड़े हिस्से में पिछले कुछ साल में हुए काम की बदौलत अकाल की छाया उतनी बुरी नहीं है। कुछ हिस्सों में तो अकाल को सुंदर भर चुके तालाबों की पाल पर बिठा दिया गया है। जयपुर और नागौर में भी ऐसी मिसालें हैं। जयपुर के ग्रामीण इलाकों में भी बड़ी आसानी

से ऐसे गाँव मिल जाएँगे, जहां कहा जा सकता है कि अकाल की परिस्थितियों के बावजूद फसल और पीने के लिए पानी सुरक्षित रखा गया है। जैसलमेर और रामगढ़ जैसे और भी सूखे इलाकों की ओर चलें जहां चार इंच से भी कम पानी गिरा होगा और अब आगे गिरने वाला नहीं है। लेकिन वहां भी कुछ गाँव लोगों की 10-20 साल की तपस्या के बूते पर आज इतना कह सकते हैं कि हमारे यहां पीने के पानी की कमी नहीं है। उधर महाराष्ट्र के भंडारा में, उत्तराखंड के पौड़ी जिले में भी कुछ हिस्से ऐसे मिल जाएँगे। हरेक राज्य में ऐसी मिसालें खोजनी चाहिए और उनसे अकाल के लिए सबक लेने चाहिए। सरकारों के पास बुरे कामों को खोजने का एक खुफिया विभाग है ही। नेतृत्व को अकाल के बीच भी इन अच्छे कामों की सुगंध न आए तो वे इनकी खोज में अपने खुफिया विभागों को भी लगा ही सकते हैं!

पिछले दिनों कृषि वैज्ञानिकों और मंत्रालय से जुड़े अधिकारियों व नेताओं ने इस बात पर जोर दिया कि कृषि अनुसंधान संस्थाओं में कृषि विश्वविद्यालयों में अब कम पानी की मांग करने वाली फसलों पर शोध होना चाहिए। उन्हें इतनी जानकारी तो होनी चाहिए

थी कि ऐसे बीज समाज के पास बराबर रहे हैं। समाज ने इन फसलों पर, बीजों पर बहुत पहले से काम किया था। उनके लिए आधुनिक सिंचाई की ज़रूरत ही नहीं है। इन्हें बारानी खेती के इलाके कहा जाता है। 20-30 सालों में बारानी खेती के इलाकों को आधुनिक कृषि की दासी बनाने की कोशिशें हुई हैं। ऐसे क्षेत्रों को पिछड़ा बताया गया, ऐसे बीजों को और उन्हें बोने वालों को पिछड़ा बताया गया, उन्हें पंजाब-हरियाणा जैसी आधुनिक खेती करके दिखाने के लिए कहा जाता रहा है। आज हम बहुत दुःख के साथ देख रहे हैं कि अकाल का संकट पंजाब-हरियाणा पर भी छा रहा है। एक समय था जब बारानी इलाके देश का सबसे स्वादिष्ट अन्न पैदा करते थे। दिल्ली-मुंबई के बाजारों में आज भी सबसे महंगा गेहूं मध्यप्रदेश के बारानी खेती वाले इलाकों से आता है। अब तो चेतें। बारानी की इज्जत बढ़ाएँ।

इसलिए इस बार जब अकाल आया है तो हम सब मिलकर सीखें कि अकाल अकेले नहीं आता है। अगली बार जब अकाल पड़े तो उससे पहले अच्छी योजनाओं का अकाल न आने दें। उन इलाकों, लोगों और परंपराओं से कुछ सीखें जो इस अकाल के बीच में भी सुजलाम्, सुफलाम् बने हुए हैं।

दम तोड़ सकते हैं 40 लाख बच्चे : ऑक्सफेम

दुनिया के धनी राष्ट्र अगर जलवायु परिवर्तन की समस्या से निपटने के लिए गरीब देशों की आर्थिक मदद करने में विफल रहते हैं तो साढ़े 40 लाख बच्चे असमय काल के गाल में समा सकते हैं।

विश्व विकास संगठन ऑक्सफेम ने अपनी एक रिपोर्ट में यह चेतावनी दी है। संगठन ने रिपोर्ट में कहा है कि उसे इस बात की चिंता है कि औद्योगिक राष्ट्र जलवायु परिवर्तन से निपटने में गरीब देशों की मदद करने के लिए आर्थिक विकास को समर्पित मौजूदा कोष में से धन निकालेंगे। रिपोर्ट में कहा गया है कि केवल डेनमार्क, नीदरलैण्ड और ब्रिटेन ने ही अतिरिक्त कोष का समर्थन किया है। ऑक्सफेम को चिंता है कि राष्ट्राध्यक्षों ने अभी कदम नहीं उठाया तो दिसंबर में कोपेनहेगन में जलवायु परिवर्तन पर होने वाली बैठक विफल हो सकती है।

ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी लाने के लिए एक नए जलवायु करार पर बातचीत के लिए विश्व नेता दिसंबर में डेनमार्क

में बैठक कर रहे हैं। 7 से 18 दिसंबर तक होने वाली इस बैठक में पर्यावरण अनुकूल अर्थव्यवस्था के विकास के लिए विश्व के गरीब देशों को धन मुहैया कराना और जलवायु परिवर्तन के प्रभावों पर चर्चा मुख्य मुद्दे होंगे।

संगठन ने चेतावनी दी है कि आर्थिक विकास के लिए निर्धारित कोष को जलवायु परिवर्तन मद में डाल दिया गया तो इससे करीब साढ़े 70 लाख बच्चे स्कूल जाने से वंचित रह जाएँगे और करीब साढ़े 80 लाख एड्स पीड़ितों को उपचार सुविधाओं से वंचित रहना पड़ सकता है। संगठन ने 'बियॉड एड' शीर्षक वाली रिपोर्ट में कहा है कि गरीब देशों को मजबूर किया जा रहा है कि वे बीमारों के लिए जीवन रक्षक दवाओं और बच्चों को स्कूल भेजने व जलवायु परिवर्तन के खिलाफ संघर्ष के बीच चुनाव करें जो कि उन पर एक अन्याय है। ऑक्सफेम ग्रेट ब्रिटेन की मुख्य कार्यकारी अधिकारी बारबरा स्टोकिंग ने कहा कि इससे गरीबी और बढ़ेगी।

विश्व जीवन का आधार – प्रकृति

रमाशंकर गुप्ता

सम्पूर्ण विश्व की जीवन-रेखा, प्रकृति निर्मित परिस्थितियों पर आधारित है। प्रकाश, जल, वायु विश्व जीवन का मूल आधार हैं क्योंकि यह भूमि की उर्वरता, खाद्यान्न, वन फसलों के उत्पादन और उनके अवशेषों के लिए उत्तरदायी हैं, और यही वह आधार हैं जिन पर सम्पूर्ण विश्व का जीवन टिका हुआ है। परंतु मानवजनित कारणों से प्रकृति के इन तत्वों के अंतर्संबंधों में जो परिवर्तन आया है और उसके चलते प्राकृतिक चक्र में जो परिवर्तन हुआ है और हो रहा है, वह पर्यावरण को गंभीर क्षति पहुँचा रहा है जो कि ग्लोबल वार्मिंग की शक्ति में सामने है। जलवायु परिवर्तन के बारे में बात करने के लिए पर्यावरण के इन प्रमुख तत्वों की अलग-अलग और एक साथ बात करना बहुत ज़रूरी है।

प्रकाश :

यह विदित ही है कि ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन से ओजोन परत को निरंतर क्षति हुई है। जिसके कारण सूर्य का विकिरणीय प्रभाव पृथ्वी पर पड़ने से धरती के तापमान में लगातार वृद्धि हो रही है। इस तापमान वृद्धि के कारण वानस्पतिक जीवन पर घातक प्रभाव पड़ने के साथ ही सम्पूर्ण प्राणी जीवन के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। वानस्पतिक उत्पादन विकरणित होने के साथ-साथ उत्पादन व गुणवत्ता में कमी के कारण प्राणी जगत कुपोषण व नित नई बीमारियों का शिकार हो रहा है। संभव है कि भविष्य में हमारे जीवन का प्रमुख आधार - प्रकाश - अपने विकिरण के कारण जीवन के प्रति इतना असहिष्णु हो जाए कि वर्तमान प्राणी जगत डायनासौर युग की तरह समाप्त हो जाए। यदि सूर्य के प्रकाश के इन्द्रधनुषीय प्रभाव का उपयोग कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए किया जाए तो शायद यह प्रकाश के सर्वोत्तम उपयोग की अत्यंत परिष्कृत तकनीक प्राणी जगत के जीवन में खुशहाली के रंग भर सकती है।

वर्षा जल :

ग्लोबल वार्मिंग के प्रभाव से पृथ्वी के

तापमान में हो रही वृद्धि के कारण वाष्प बादलों का अनियमित निर्माण, अनियमित वर्षा का कारण बन रहा है। जिसके कारण सम्पूर्ण वानस्पतिक उत्पादन प्रभावित हो रहा है जिससे कि खाद्यान्न फसलों एवं वन फसलों पर आधारित सम्पूर्ण प्राणी जगत की आहार उपलब्धता, आजीविका के साधन, जीवन शैली प्रभावित हो रही है। कहीं सूखा तो कहीं बाढ़, ठंड के समय गर्मी और गर्मी के समय ठंड जैसी प्रतिकूल स्थितियों के विपरीत प्रभाव भी झेलने पड़ रहे हैं।

सभ्य समाज और विकास का अर्थ सिर्फ कांक्र्रीट के जंगल, प्रदूषण उगलती चिमनियाँ और गोदामों में भरा अनाज नहीं है। विकास का सही मापदण्ड यही है कि मानव समाज का सबसे पिछड़ा, गरीब व्यक्ति कितना सुखी, स्वस्थ, शिक्षित, संतुष्ट और सुरक्षित है। किसी भी विकसित राष्ट्र या विकासशील देश के शासन-प्रशासन या नागरिक को यह अधिकार नहीं है कि वह सम्पूर्ण विश्व की बहुसंख्यक ग्रामीण आबादी और पालतू/वन्य प्राणी जीवन के शुद्ध प्रकाश-जल-वायु के नैसर्गिक/मौलिक अधिकार का अपने निजी लाभ के लिए हनन करे या उसे प्रदूषित करे।

भू-जल :

प्राणी जगत की बढ़ती खाद्यान्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कृषि उत्पादन को बढ़ाने हेतु जैविक पद्धतियों की जगह रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के प्रयोग ने पृथ्वी की सतह के जल को दूषित कर दिया है। इसमें कोढ़ पर खाज की कहावत को चरितार्थ कर रहा है राजकीय प्रबंध तंत्र जो अत्यंत जहरीले कीटनाशक रसायनों को सफाई एवं स्वच्छता के

नाम पर कचरे के ढेरों एवं नगरीय व्यवस्था की नालियों में डाल रहा है, जो कि निस्तारी जल में मिलकर नालों-नदियों से होते हुए समुद्र तक के भू-जल को अत्यंत गंभीर रूप से प्रदूषित कर रहा है। इसके प्रभाव से भू-जल का जलीय जीवन (मछली, मेंढक, घोंघे आदि) जो प्राकृतिक रूप से भू-जल को साफ रखने का कार्य करता था वह समाप्त हो रहा है। इसी कारण विगत कुछ दशकों में नदियां मर रही हैं अर्थात् भू-जल की जीवन्तता समाप्त हो रही है, इससे भी पर्यावरण को गंभीर क्षति पहुँच रही है। शुद्ध पीने योग्य जल की उपलब्धता प्रभावित होने से नित नई बीमारियों का उद्भव हो रहा है जिससे बहुसंख्यक ग्रामीण गरीब अपनी आर्थिक अक्षमता के कारण प्रभावित हो रहे हैं। इस जल से उत्पादित खाद्यान्न का प्रदूषित एवं गुणवत्ताहीन होना भी अपने-आप में एक बड़ी समस्या है।

भूगर्भीय जल :

अनादिकाल से जो वर्षाजल जिस मात्रा में पृथ्वी में समाहित होकर भू-गर्भ में संचित हो रहा है उसका हमने नलकूपों के माध्यम से ऐसी भारी मात्रा में दोहन किया है कि लगातार पृथ्वी के अंदर संरक्षित जल का स्तर गिरता चला जा रहा है। जिस मात्रा में हम दोहन कर रहे हैं उस मात्रा में वर्षा जल को संग्रहित करने की व्यवस्था नहीं की गई है, जिसके कारण भू-गर्भ में एक ओर बड़े खाली स्थान बन रहे हैं तो दूसरी ओर विशालकाय बांधों में संचित अरबों-खरबों टन का केन्द्रीय जलभार पृथ्वी की आंतरिक संरचना पर विपरीत प्रभाव डालकर प्राकृतिक आपदाओं को निमंत्रण दे रहा है। इसके साथ ही यह अनियंत्रित जल दोहन की स्थिति निकट भविष्य में जल उपलब्धता की कमी से कृषि उत्पादन पर भी विपरीत प्रभाव डालेगी और प्राणी जगत की पोषक खाद्यान्न उपलब्धता एवं आजीविका के साधनों को प्रभावित कर कुपोषण की मार झेलने को मजबूर करेगी।



वायु :

सम्पूर्ण विश्व के प्राणी जीवन की तीसरी महत्वपूर्ण आवश्यकता शुद्ध प्राणवायु है किन्तु विकसित तथा विकासशील देशों के औद्योगिक प्रदूषण के कारण घटती वन सम्पदा एवं वन क्षेत्र के कारण पूर्व में वनों के उत्पाद अवशेषों से प्राप्त जैविक उर्वरकों की कमी, वन्य प्राणी जीवों की लुप्त होती प्रजातियां, पर्यावरण के मित्र कीटों एवं बैक्टीरिया के नष्ट होने से पर्यावरण चक्र पर पड़ रहे विपरीत प्रभाव से सम्पूर्ण वायुमण्डल दूषित हो रहा है। कार्बन डाई ऑक्साइड और ऑक्सीजन लेने और छोड़ने वाले वनस्पति और प्राणी जगत के बीच प्राकृतिक अनुपात का अंतर निरंतर कम होने की स्थिति से ही आज वायुमण्डल में कार्बन डाई-ऑक्साइड का स्तर सुरक्षित 350 पार्ट्स से बढ़कर 390 पार्ट्स तक पहुँच चुका है, जिसे औद्योगिक और रासायनिक प्रदूषण और भी अधिक भयावह बनाते जा रहे हैं।

इस सम्पूर्ण प्रकाश-जल-वायु की अनियमितता से उपजी त्रासदी को भोगने के लिए सबसे पहले और सबसे अधिक मजबूर पिछड़े और विकासशील देशों की ग्रामीण क्षेत्र की बहुसंख्यक आबादी होगी। शहरी आबादी और विकसित देशों के लोग शायद कुछ ज्यादा समय तक सुरक्षा उपायों की उपलब्धता के सहारे विनाश से संघर्ष कर लें किन्तु प्रकृति के अंतिम निर्णय के समक्ष उन्हें भी घुटने टेकने पड़ेंगे।

प्राचीन समय से भारतीय परिवेश में कृषि एवं कृषि उत्पादों की महत्ता, उसके प्रति जागरूकता विद्यमान रही है। सदियों तक भारतीय मनीषियों ने शोध कर सौरमण्डल के ग्रहों की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से प्रकृति में होने वाले छोटे-बड़े बदलाव के संकेतों से, मूक प्राणियों के व्यवहार आदि के संकेतों से पृथ्वी के मौसम पर होने वाले प्रभावों, परिणामों, वर्षानुमानों का सटीक पूर्वानुमान लगाने की तकनीक विकसित की। उसे लोकोक्तियों, गीतों आदि के माध्यम से सरलीकृत रूप में जन-जन तक प्रचारित किया। ताकि व्यक्ति अपने क्षेत्र की परिस्थितियों एवं

लक्षणों के अनुसार मौसम का पूर्वानुमान लगाकर अपनी आजीविका व खाद्य सुरक्षा के प्रमुख आधार कृषि की पद्धति में आवश्यकतानुसार बदलाव कर प्रतिकूल परिस्थितियों में जलवायु परिवर्तन के अनुरूप अपनी जीवन शैली और दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति सुचारू रूप से कर सके। भौतिकतावादी सोच एवं शिक्षा पद्धति ने दीर्घकालीन व्यवस्था परिणामों की बजाय तात्कालिक परिणामों की भौतिक चकाचौंध में विरासत में मिले मौसमी ज्ञान को विलुप्तता की स्थिति में पहुँचा दिया है। परिणामस्वरूप गरीब ग्रामीण कृषक कभी सूखा तो कभी बाढ़ की मार से अपनी आजीविका से वंचित होकर, क्रय शक्ति के हास से कुपोषण एवं भुखमरी का शिकार होकर आत्महत्या करने को मजबूर हो रहा है। दूसरी ओर सदियों से क्षेत्र एवं जलवायु के अनुकूल प्राकृतिक रूप से विकसित आनुवांशिक बीज, जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कारगर होते थे, उनकी जगह संकर एवं बी.टी. बीजों से जैव विविधता के नष्ट होने का खतरा बढ़ रहा है।

शासकीय स्तर पर देखा जाए तो अधिकांश राजनेता और सरकार ऐसी नीतियां/योजनाएँ क्रियान्वित करने में रुचि लेते हैं, जिसके तात्कालिक लाभ के रूप में उसे सत्ता की शक्ति प्राप्त हो सके। साथ में भ्रष्टाचार का अकूत धन भी। विगत चुनावों के पूर्व से गरीबों में खाद्यान्न सहायता योजना के लिए विभिन्न नामों से अनेक राज्यों में ऐसी योजनाओं का संचालन किया जा रहा है। वर्तमान में केन्द्र सरकार द्वारा भी खाद्यान्न सुरक्षा विधेयक के जरिये प्रत्येक परिवार को तीन रुपये प्रति किलो की दर से प्रतिमाह 25 किलो खाद्यान्न उपलब्ध कराने का कानून बनाया जा रहा है। इस नीति के तात्कालिक परिणामों से कुछ पार्टियों को सत्ता प्राप्ति तो हो गई किन्तु इसके दीर्घकालीन परिणाम भी दिखने शुरू हो गए हैं, जिसके तहत हितग्राही परिवार में काम के प्रति बढ़ती अरुचि एवं अकर्मण्यता की प्रवृत्ति वास्तव में गंभीर चिंता का विषय है। वास्तव में नीति यह होना चाहिए कि गरीबों-मजदूरों की क्रय शक्ति बढ़ाने के उपाय किये जाना चाहिए।

रोज़गार के अवसर बढ़ाने, उनकी कार्य कुशलता बढ़ाने, काम करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने और कार्य की बेहतर स्थितियां निर्मित करने के प्रयास होने चाहिए, ताकि वह देश के विकास में अपनी श्रम शक्ति का भरपूर उपयोग करते हुए ससम्मान बेहतर जीवन जी सके। किसी भी प्रदेश या देश में किसी भी वर्ग को दया का पात्र बना देना नैतिक, सामाजिक एवं कानूनी दृष्टि से भी मानवता के प्रति अक्षम्य अपराध है इसलिए समाज के कमजोर वर्ग की क्रय शक्ति बढ़ाना ही दीर्घकालीन रूप से सही नीति हो सकती है। निश्चित ही खाद्यान्न सुरक्षा विधेयक को पारित करने के पूर्व इस नीति के दीर्घकालीन परिणामों पर खुली चर्चा होना देश एवं समाज के हित में अत्यंत आवश्यक है।

हमें अंत की शुरुआत से पहले सम्पूर्ण विश्व में ऐसी नीतियां बनाने की तत्काल पहल करनी होगी। पर्यावरण की सुरक्षा सुनिश्चित करते हुए प्राचीन ज्ञान पर आधारित ऐसी कृषि पद्धति विकसित करनी होगी जो प्रत्येक प्राणी की आहार आवश्यकताओं को पूरा करते हुए शुद्ध जल की उपलब्धता भी सुनिश्चित कर सके। तभी हम कुपोषण और भुखमरी से मुक्त समाज में बेहतर जीवन की परिकल्पना को साकार करने में सक्षम हो सकेंगे अन्यथा विनाश की काली छाया सारे विकास को लीलने में अब ज्यादा देर नहीं करेगी।

सभ्य समाज और विकास का अर्थ सिर्फ कांक्रिट के जंगल, प्रदूषण उगलती चिमनियां और गोदामों में भरा अनाज नहीं है। विकास का सही मापदण्ड यही है कि मानव समाज का सबसे पिछड़ा, गरीब व्यक्ति कितना सुखी, स्वस्थ, शिक्षित, संतुष्ट और सुरक्षित है। किसी भी विकसित राष्ट्र या विकासशील देश के शासन-प्रशासन या नागरिक को यह अधिकार नहीं है कि वह सम्पूर्ण विश्व की बहुसंख्यक ग्रामीण आबादी और पालतू/वन्य प्राणी जीवन के शुद्ध प्रकाश-जल-वायु के नैसर्गिक/मौलिक अधिकार का अपने निजी लाभ के लिए हनन करे या उसे प्रदूषित करे।

जलवायु परिवर्तन के चलते...

- ◆ 1880 के बाद से पृथ्वी के औसत तापमान में 0.8 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि हुई है। नासा के गोडाई इंस्टीट्यूट फॉर स्पेस स्टडीज के मुताबिक इसमें सबसे ज्यादा वृद्धि हाल के दशकों में हुई है।
- ◆ गरमाहट की रफ़्तार हर साल बढ़ रही है। पिछली सदी के आखिरी दो दशक पिछले 400 सालों में सबसे गर्म दर्ज किये गये। संभवतः ये लाखों वर्षों में सबसे गर्म दशक थे।
- ◆ आर्कटिक की बर्फ तेजी से गायब हो रही है और माना जा रहा है कि यह विराट हिमानी क्षेत्र सन् 2040 या इससे भी पहले की गर्मियों तक पूर्णतः हिमरहित हो जायेगा। समुद्र में हर साल जमने वाली बर्फ की मात्रा में निरन्तर आ रही कमी के चलते ध्रुवीय भालू जैसे जीवों का अस्तित्व पहले ही संकट में आ चुका है।
- ◆ दुनिया भर के हिम नदों (ग्लेशियर) और हिम पर्वतों की बर्फ तेजी से पिघल रही है। उदाहरण के लिए उत्तरी गोलार्द्ध स्थित मोंटाना ग्लेशियर पार्क में 1910 में जहाँ 150 ग्लेशियर मौजूद थे, आज मात्र 27 बचे हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में बसंत में हिम द्रवण एक सप्ताह पहले और बर्फ का जमना एक सप्ताह बाद शुरू होने लगा है।
- ◆ कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि जलवायु परिवर्तन में उग्र मौसमी घटनाओं जैसे कि शक्तिशाली उष्णकटिबंधीय तूफान, जंगलों में आग, गर्म हवाओं का भी योगदान है।
- ◆ गर्मी बढ़ने से अफ्रीकी महाद्वीप का एक बहुत बड़ा भाग अकाल की चपेट में है।
- ◆ पृथ्वी की कुल बर्फ का 91 प्रतिशत हिस्सा अपने पास रखने वाला अंटार्कटिक हिम क्षेत्र पिछले पाँच सालों में 3000 वर्ग कि.मी. सिकुड़ गया है।
- ◆ यूरोपीय देशों में गेहूँ की उपज गिर जाने के कारण वहाँ से इसका निर्यात बन्द होने लगा है।
- ◆ यूरोप में 48 डिग्री सेल्सियस तक चले गये तापमान और अगस्त माह में एक हफ्ते चली जबरदस्त लू में 35 हजार लोगों की जानें गयीं।
- ◆ हिन्द महासागर क्षेत्र में आये समुद्री तूफान सुनामी में लगभग 2 लाख 28 हजार लोग मारे गए।
- ◆ तापमान बढ़ने के कारण हिमांचल क्षेत्र की 40 से अधिक ग्लेशियर झीलें फटने के कगार पर हैं।
- ◆ समुद्र में अम्लता बढ़ने के कारण 10 लाख से अधिक प्रजातियों के विलुप्त होने का खतरा है।
- ◆ इस सदी के अंत तक समुद्रों का जलस्तर 7 से 23 इंच (18 से 59 से.मी.) तक बढ़ सकता है। इससे दक्षिण पूर्व एशिया का विस्तृत भू-भाग जलमग्न हो जायेगा।
- ◆ पर्यावरण प्रदूषण और तेजी से बदलते मौसम के कारण अनुमान है कि 2025 तक गंगोत्री हिमनदी पूरी तरह सूख जायेगी।
- ◆ आई.पी.सी.सी. की रिपोर्ट के अनुसार भविष्य में पानी की किल्लत और बढ़ेगी लेकिन बाढ़ एक सामान्य समस्या होगी। बीमारियां तेजी से बढ़ेंगी और फसलों में लगातार कमी आयेगी।
- ◆ दुनिया के कई हिस्सों में शक्तिशाली तूफान, बाढ़, ताप तरंग (हीट वेवज़) दावानल जैसी प्राकृतिक आपदाएँ रोज़मर्रा की बात हो जायेंगी।
- ◆ महासागरों की संचरण प्रणाली जिसे ओशन कन्वेयर बेल्ट कहा जाता है, स्थायी रूप से बदल सकती है जिससे पश्चिमी यूरोप में 'लघु हिमयुग' आ सकते हैं।
- ◆ 35 सालों में 40 प्रतिशत हिमालय ग्लेशियर पिछलकर समाप्त हो जाएगा।
- ◆ गंगा के तटीय मैदान की उर्वरता समाप्त हो जाएगी।
- ◆ 25 प्रतिशत जंगली जानवर समाप्त हो जाएंगे।
- ◆ समुद्र का जल स्तर बढ़ने से 7500 कि.मी. तटीय क्षेत्र व 50 करोड़ लोगों का जीवन खतरे में होगा।
- ◆ तटीय शहर व द्वीप जलमग्न हो जायेंगे।
- ◆ कृषि की उत्पादकता घटेगी, भूख व खाद्य असुरक्षा बढ़ेगी।
- ◆ मलेरिया, डेंगू, हैजा व अन्य बीमारियां फैलेंगी।
- ◆ परिस्थितिजन्य शरणार्थियों की संख्या करोड़ों में होगी।
- ◆ समुद्र का जल स्तर बढ़ने से भूमिगत जल क्षारीय होने लगेगा, जिससे पीने योग्य पानी की उपलब्धता क्रमशः कम होती जाएगी।



अखबारों की सुर्खियाँ

अमेरिका जलवायु परिवर्तन पर कार्यवाही को दृढ़ संकल्प : ओबामा

अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने कहा है कि अमेरिका भूमंडलीय तापमान में वृद्धि के प्रभावों को कम करने के लिए 'कृतसंकल्प' है। उन्होंने कार्बन उत्सर्जन पर काबू पाने के लिए विकासशील देशों को अपनी भूमिका अदा करने को कहा।

राष्ट्रपति बनने के बाद संयुक्त राष्ट्र में अपने पहले भाषण में ओबामा ने कहा कि हम जलवायु परिवर्तन के खतरे की गंभीरता को समझते हैं। हम कार्यवाही करने को कृतसंकल्प हैं। हम भावी पीढ़ी के लिए अपनी जिम्मेदारियाँ निभाएँगे। उन्होंने कहा कि कोई भी देश अकेले जलवायु परिवर्तन की चुनौतियों से नहीं निपट सकता। उन्होंने कहा कि दिसंबर में कोपेनहेगन में जलवायु परिवर्तन पर होने वाले सम्मेलन में सख्त बातचीत होगी।

संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन सम्मेलन में विश्व के सौ नेताओं के समूह को संबोधित करते हुए ओबामा ने कहा कि किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हमारी यात्रा का कठिन पड़ाव अमेरिका के सामने है। तेजी से विकास कर रहे विकासशील देशों को भी अपनी जिम्मेदारियाँ निभानी होंगी। फ्रांस के राष्ट्रपति निकोलस सरकोजी ने प्रस्ताव दिया कि दुनिया के मुख्य कार्बन उत्सर्जक देश कोपेनहेगन में जलवायु परिवर्तन के मुद्दे पर होने वाले अहम सम्मेलन से पहले नवंबर में एक बार फिर से मिलें। उन्होंने कहा कि कोपेनहेगन सम्मेलन की सफलता सुनिश्चित करने के लिए स्पष्ट प्रतिबद्धता की जरूरत होगी।

चीन के राष्ट्रपति हू जिताओ ने कार्बन डाइ-ऑक्साइड के उत्सर्जन में एक बड़े अंतर से कटौती कर उसे २०२० तक २००५ के स्तर तक लाने का संकल्प जताया। जिताओ ने कहा कि ये कटौतियाँ सकल घरेलू उत्पाद की इकाई से मापी जाएँगी। यह चीन की उस चिंता के अनुरूप है जिसमें उसने अपने आर्थिक विकास के संरक्षण की बात कही है।

पिट्सबर्ग में होने वाली बैठक से पहले यूरोप और अमेरिका के बीच साफ तौर पर मतभेद उभर कर सामने आए हैं। फ्रांस के राष्ट्रपति

निकोलस सरकोजी और जर्मनी की चांसलर एंजेला मर्केल ने बोनस के मामलों में अमेरिका की तुलना में कड़े नियमों की पैरवी की है, वहीं अमेरिकी वित्त मंत्री टिमोथी गीथनर ने बैंकों के पूंजी भंडार के क्षेत्र में व्यापक नियमन लाने पर जोर दिया है।

- जनसत्ता, 23 सितम्बर

जलवायु परिवर्तन पर भारत का रुख समझने लगा है अमेरिका : जयराम

भारत ने कहा है कि जलवायु परिवर्तन पर अब उसके रुख को अमेरिका ज्यादा समझ रहा है। अब वह यह समझने लगा है कि गैस उत्सर्जन की कटौती ही किसी भी देश के लिए अपनी घरेलू प्रतिबद्धताओं को वैश्विक स्तर पर दर्शाने का तरीका नहीं है।

पर्यावरण मंत्री जयराम रमेश ने अपना अमेरिका दौरा खत्म करते हुए कहा कि हमें इस बातचीत को आगे ले जाना होगा। हम अपने अमेरिकी सहयोगियों के नजदीकी संपर्क में रहेंगे। आज हम यह ज्यादा बेहतर समझते हैं कि अमेरिका क्या कर रहा है और इसी तरह निश्चित रूप से अमेरिका भी यह समझता है कि हम क्या कर रहे हैं। उन्होंने भारतीय मीडिया से कहा कि जलवायु परिवर्तन पर भारत के रवैये के प्रति अब समझ बढ़ी है। रमेश ने अपनी यात्रा में अमेरिका के जलवायु परिवर्तन पर विशेष दूत टाड स्टर्न के साथ दो दौर की बातचीत की। रमेश ने कहा कि अब यह स्थापित हो चुका है कि भारत एक जिम्मेदार खिलाड़ी है। वह समानता वाला करार चाहता है। जलवायु परिवर्तन पर भारत नेतृत्व वाली भूमिका निभाने को तैयार है। उन्होंने कहा कि अब मुख्य उद्देश्य यह है कि जब प्रधानमंत्री नवंबर में अमेरिका आएँ तो हम ऊर्जा, पर्यावरण और जलवायु परिवर्तन पर संस्थागत भागीदारी को अंतिम रूप से दे सकें। उधर, जलवायु परिवर्तन (ग्लोबल वार्मिंग) पर दिसंबर में होने वाली कोपेनहेगन बैठक से पहले भारतीय पर्यावरणविद् आर.के. पचौरी और २६ अन्य वैश्विक नेताओं ने एक घोषणा-पत्र तैयार किया है।

- जनसत्ता, 3 अक्टूबर

(सीमित प्रसार के लिए प्रकाशित)

पैरवी

जी-30, प्रथम तल, लाजपत नगर III,
दिल्ली-110024

फोन : 011-29841266, 65151897

ई-मेल : pairvidelhi@rediffmail.com

pairvidelhi1@gmail.com

वैबसाईट : www.pairvi.org

Book-Post

